कल्याण

वर्ष ३५

अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०१८, अप्रैल १९६१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–भगवान्‌की विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प और वासुकिके रूपमें [कविता] (गीता दशम अध्याय)	८२९
२–कल्याण ('शिव')	८३०
३–ईश्वर-पूजन (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)	८३१
४–मैं अपने भगवान्‌का खिलौना बन गया हूँ	८३५
५–धर्मपालनार्थ प्राणोत्सर्गसे श्रेयप्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	८३६
६–मायाकी प्रबलता और उसके निवारणका उपाय (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	८३९
७–पागलकी झोली (महात्मा श्रीश्रीसीता-रामदास ॐकारनाथजी महाराज)	८४२
८–मेरी जीवन-नदीकी धारा भगवच्चरणाम्बुधि-की ओर बह रही है [कविता]	८४९
९–मधुर	८५०
१०–पाप और पुण्यकी कमाई (डा० श्रीराम-चरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	८५३
११–मैं सबमें सच्चिदानन्द भगवान्‌को देखकर परमानन्द प्राप्त करूँगा [कविता]	८५६
१२–पूर्णकाम [कहानी] (श्री 'चक्र')	८५७
१३–श्रीगुरु गोरखनाथ (साहित्याचार्य रावत श्रीचतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी)	८६०
१४–वेदोंका अद्यतन पाठ ही 'मूल' है (श्री-तिलकधारीजी पाण्डेय एम्० ए०, साहित्याचार्य)	८६२
१५–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्द-दासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्री-गोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)	८६५
१६–श्रीभरतलालजीका स्वप्न (श्रीबलरामजी शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, साहित्यरत्न)	८६९
१७–तुझसे ही—(श्रीबालकृष्णजी बलदुआ)	८७२
१८–अपराधीसे महात्मा (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	८७३
१९–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)	८८२
२०–लड़कियोंका नाच या चरित्रनाश ? (श्रीलक्ष्मणप्रसादजी गुप्त, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, एडवोकेट)	८८७
२१–स्नेह-सुमन [कविता] (श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट-ला)	८८८
२२–गीत [कविता] (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन', एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	८८९
२३–पढ़ो, समझो और करो	८९०
२४–भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ	८९२

चित्र-सूची

१–गरुडवाहन 'नारायण'	(रेखाचित्र)	मुखपृष्ठ
२–भगवान्‌की विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प और वासुकिके रूपमें	(तिरंगा)	८२९

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

भगवान्‌की विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प एवं वासुकिके रूपमें

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्रदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१८, अप्रैल १९६१ { संख्या ४
पूर्ण संख्या ४१३

भगवान्‌की विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प और वासुकिके रूपमें

सब कुछ मुझमें ही रहता है, मैं सबमें हूँ नित्याव्यक्त ।
पर विभूति-श्री-तेजपुञ्ज जो हैं, उनमें होता अभिव्यक्त ॥
वज्र सकल आयुधसमूहमें, कामधेनु गौओंके मध्य ।
प्रजननोंमें हूँ कामदेव मैं, सर्पोंमें वासुकि आराध्य ॥

(गीता १०।२८ अनुवाद)

याद रक्खो—संसारके भोग परिवर्तनशील, अपूर्ण तथा विनाशी हैं, अतएव संसार-भोगोंमें आसक्त मनुष्योंको कभी सुख नहीं मिल सकता। वे सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ आदि द्वन्द्वोंके मोहमें फँसे हुए दिन-रात अशान्ति तथा चिन्तामें डूबे रहते हैं। एकमें अनुकूलताका अनुभव करते हैं, दूसरेमें प्रतिकूलताका। अनुकूलताकी प्राप्ति तथा प्रतिकूलताके विनाशके लिये अनवरत विचार और प्रयत्न करते रहते हैं और इसी मोहमें पड़े हुए वे पाप-कर्मोंमें संलग्न तथा पवित्र कर्मोंसे दूर रहने लगते हैं। भगवान्का भजन उनके लिये असम्भव-सी वस्तु बन जाता है। उनका भोगपरायण जीवन भगवद्विमुख होकर नरक-स्वरूप बन जाता है और वे नरककीटके सदृश उसीमें रचे-पचे जीवनके अमूल्य क्षणोंको पापसंचय और उसके फलस्वरूप भविष्यके घोर पतनका साधन बनानेमें ही बिता देते हैं। संसारके चाहे प्रचुर भोग उन्हें मिल जायँ, अथवा वे सर्वथा भोगरहित रहें—वे सदा ही बढ़ते रहते हैं—आत्म-पतन—आत्म-विनाशकी ओर ही!

याद रक्खो—जिनका जीवन भगवान्से जुड़ जाता है, जिनके जीवनकी गति भगवान्के सन्मुख हो जाती है, वे इन द्वन्द्वोंके फंदेसे निकल जाते हैं। वे जान जाते हैं कि इन द्वन्द्वोंका सारा सम्बन्ध केवल नाम-रूपसे है, शरीर और नामसे है—जो दोनों ही आत्मासे पृथक् केवल इस जन्मकी यात्राके लिये मिले हैं; उनके साथ होनेवाले किसी भी परिणाम और व्यवहारसे आत्माका अपना निज-का वास्तविक कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे द्वन्द्व-मोहसे मुक्त पुरुष ही वस्तुतः दृढ़ निश्चयके साथ भगवान्का भजन करते हैं।

याद रक्खो—भोगपरायण मनुष्योंको चार चीजें मिलती हैं—अपार अशान्ति, अनवरत दुःख, पापाचरण और मरणोत्तर नरक एवं आसुरी योनियोंकी प्राप्ति। इसके विपरीत भगवत्परायण पुरुषोंको निर्मल शान्ति, उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ सुख, पुण्यकर्मोंका आचरण और मरणोत्तर सद्गति या भगवत्प्राप्ति।

याद रक्खो—मनुष्य-जीवन यदि भगवत्प्राप्तिके साधन-में न लगकर—भगवान्के सम्मुख न होकर, कामोप-भोगपरायण हो गया तो वह पशु-जीवनसे भी अधिक बुरा है। पशु आदि योनियोंमें जीव कर्मफल भोगकर क्रमशः कर्म-ऋणसे मुक्त होता है। परंतु भोगपरायण मनुष्य तो नित्य नये पापकर्मोंका संग्रह करके अपने भविष्यका विनाश करता है। मनुष्यकी बुद्धि भोगपरायण होकर जितनी काम, क्रोध, लोभ आदि दोषोंको बढ़ाती तथा उनके फल-स्वरूप पतन कराती है, उतनी और वैसी बुद्धि पशु आदिमें होती ही नहीं। मनुष्यकी बुद्धि ही तामसभावापन्न होनेपर भयंकर-से-भयंकर पापोंकी नयी-नयी योजनाएँ बनाती एवं उनके अनुसार जीवनका निर्माण करती है।

याद रक्खो—वह सम्पत्ति, सम्पत्ति नहीं है, वह सुख सुख नहीं है, वह सौभाग्य सौभाग्य नहीं है, वह बुद्धि बुद्धि नहीं है, वह कर्म कर्म नहीं है, वह आत्मीय आत्मीय नहीं है और वह पदार्थ पदार्थ नहीं है, जो भगवान्से विमुख करते हैं। असलमें भगवान्से विमुख करनेवाली, भोगोंमें लगाकर पापपरायण बनानेवाली सम्पत्ति विपत्ति है, सुख दुःख है, सौभाग्य दुर्भाग्य है, बुद्धि कुबुद्धि है, कर्म कुकर्म है, आत्मीय शत्रु है और पदार्थ अपदार्थ हैं। भगवान्में लगानेवाले प्राणी-पदार्थ ही सर्वथा और सर्वदा हमारे हितैषी हैं। उन सारे हितैषियोंका संग्रह करो, उन्हें अपनाओ, उनका समादर करो—चाहे उनके नाम विपत्ति, दुर्भाग्य, दुःख आदि ही क्यों न हों।

'शिव'

ईश्वर-पूजन

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क पृष्ठ ७६९ से आगे]

वह पूजनका प्रकार यह है—

रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टानृतादिना ।
हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनत्रयम् ॥

इस प्रकार त्रिविध ईश्वर-पूजन बताया है । इनमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार किसी भी एक प्रकारका पूजन करनेसे दूसरे दो प्रकारके पूजन अपने-आप ही हो जाते हैं । जैसे खाटका एक पाया खींचनेसे शेष तीनों पाये अपने-आप खिंच आते हैं, उसके लिये अलग श्रमकी आवश्यकता नहीं होती । इसी प्रकार एक प्रकारका पूजन करनेसे त्रिविध पूजन हो जाता है ।

(१) पहला साधन है—'रागाद्यदुष्टं हृदयम्'—अर्थात् हृदयको, अन्तःकरणको रागादि पाँच क्लेशोंसे कलुषित न होने दे । रागादि पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । ये पाँच क्लेश जब अन्तःकरणमें जमकर बैठ जाते हैं, तब वह तमोगुणसे आवृत हो जाता है और परिणामतः वह ईश्वरके सम्मुख नहीं हो सकता । इसलिये ईश्वरका पूजन करके उसके द्वारा ईश्वरकी प्राप्ति करनी हो तो अन्तःकरणको निर्मल बनाना चाहिये । ये पाँच क्लेश जबतक अन्तःकरणसे नहीं निकलते, तबतक वह निर्मल नहीं होता । अतएव रागादिसे अन्तःकरणको मुक्त करनेके लिये साधन करना चाहिये । यह साधन श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार बतलाया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥

(१७ । १६)

भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार मानसिक तप करनेसे अन्तःकरण पाँच क्लेशोंसे मुक्त हो जायगा । वह साधन इस प्रकार है—'मनःप्रसादः' अर्थात् चित्तको सदा प्रसन्न रखना । ऐसा कोई भी व्यवहार न करना, जिससे चित्तकी प्रसन्नताका नाश हो; क्योंकि प्रसन्न चित्त ही सत्त्वगुणप्रधान हो सकता है । 'सौम्यत्वम्'—साधक अपना मुँह सदा हँसता हुआ रक्खे, प्रसन्नवदन रहे । चित्तमें प्रसन्नता रहनेसे मुँह स्वाभाविक ही हँसता रहता है । अथवा चित्तका क्रूर न होकर सहानुभूतिपूर्ण कोमल रहना, किसीको दुःख तो पहुँचाना ही नहीं, जरा-सा भी परदुःखसे हृदयका द्रवित हो जाना । 'मौनम्' का अर्थ काष्ठमौन नहीं, अर्थात् बिल्कुल गूँगा बन जानेकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि जितना जरूरत हो उतना ही बोले । व्यर्थ बकवास न करे । बहुत अधिक और अनावश्यक बोलनेसे वाणी व्यर्थ हो जाती है और परनिन्दा तथा परचर्चा हो जाती है । इसलिये जितना आवश्यक हो उतना ही बोले । अथवा मनसे व्यर्थ चिन्तन कदापि न करके भगवान्‌का मनन करना, मनका जगत्‌में न रमकर भगवान्‌में रमा रहना । 'आत्मविनिग्रहः' अर्थात् मनका पूर्णतया निगृहीत रहना, वशमें रहना । तब 'भावसंशुद्धि' होती है । मानसिक तप पूरा होता है । यह परम विशुद्ध भाव ही आत्मभाव है । अर्थात् भावशुद्धिका अर्थ होता है सर्वात्मभावकी साधना । यह सर्वात्मभाव क्या है ? इसके विषयमें भी गीतामें श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार समझाया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

(६ । २९)

अर्थात् जिसको समत्वयोग सिद्ध करना है, वह

योगी सर्वत्र अपने आत्माको ही देखता है। इससे उसको यह निश्चय हो जाता है कि ये समस्त चराचर प्राणी आत्मस्वरूप हैं। वह चराचर भूतमात्रको आत्मरूप अपनेमें तथा आत्मरूप अपनेको समस्त भूतोंमें देखता है।

यह बात बहुत ही उच्च कोटिकी है। साधन करते-करते सिद्ध हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाली यह स्थिति साधकके लिये अवश्य ही कठिन है। इसलिये भावसंशुद्धिका कुछ आसान अर्थ भी किया जा सकता है। कवि दलपतके शब्दोंमें कहें तो—

परमेश्वरकी है प्रजा, सारा यह संसार।
एक कुटुम्बी हम सभी, एक पिता परिवार॥

अर्थात् यह चराचर भूतमात्र ईश्वरकी प्रजा है, इसलिये भूतमात्र उसके बालक हैं। अतः सभी परस्पर भाई-भाई हैं। लोग इसको विश्वप्रेम या विश्वबन्धुत्व भी कहते हैं। इस भावकी साधनासे भी मानसिक तपकी पूर्णता होती है; क्योंकि तत्त्वदृष्टिसे भूतमात्रमें एक ही ईश्वर जीवरूपसे रहता है। इसलिये सम्बोधनमें 'भाई' शब्दका प्रयोग करो या 'आत्मस्वरूप' शब्दका प्रयोग करो, दोनों एक ही बात है।

(२) दूसरा साधन है—'वागदुष्टानृतादिना' अर्थात् वाणीको असत्य भाषणरूपी दोषसे दूषित अथवा अपवित्र न होने देना। भावात्मक शब्द प्रयोग करें तो कहेंगे कि वाणीको सत्यसे पवित्र रखना। अर्थात् 'सत्यपूतं वदेद् वाचम्'का मन्त्र ध्यानमें रखकर सत्य बोलनेका व्रत ले लेना। सत्यका आचरण कैसे किया जाय, इसको इस श्लोकमें ठीक-ठीक बतलाया गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

अर्थात् सत्य अवश्य बोले, परंतु मधुर वाणीसे बोले, क्रोधावेशमें या कड़े शब्दोंमें नहीं; क्योंकि क्रोधमें या कड़े शब्दोंमें बोलनेसे सामनेवाले आदमीका दिल दुखता है और इससे सत्यभाषणका तप नष्ट हो जाता है। इसी कारण श्लोकके दूसरे चरणमें कठोर वाणी बोलनेका प्रत्यक्ष निषेध किया है। बल्कि प्रिय लगनेवाली बात हो पर असत्य हो तो उसे भी न बोले, यह तीसरे चरणमें कहा है। प्रिय और असत्य वाणीका अर्थ है खुशामद। किसीकी खुशामद करना या प्रसन्न करनेके लिये झूठ बोलना—एक ही बात है। मनुष्यमें सामान्यतः इस प्रकारकी दुर्बलता पायी जाती है। इसलिये इस प्रकारका असत्य न बोले। यह तीसरे चरणमें स्पष्ट कहा है और अन्तमें कहा है कि सत्य बोलनेके विषयमें यह सनातन धर्म सदासे चला आ रहा है, इसका अनुसरण करे।

इस साधनकी सिद्धिके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें वाणीका तप इस प्रकार बतलाया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
(१७।१५)

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये जो सुननेवालेके दिलको न दुखाये। सत्य हो, प्रिय हो और हितकर भी हो। इस प्रकार नित्यके व्यवहारमें बोलने-चालनेमें ध्यान रक्खे कि असत्य तो नहीं बोला जा रहा है और कहीं ऐसा तो नहीं बोला जा रहा है कि सुननेवालेके लिये कष्टकर हो या अहितकर हो। साथ ही नियमित स्वाध्याय या भगवन्नाम-जप-कीर्तन भी सदा नियमितरूपसे चलाते रहना चाहिये।

(३) तीसरा साधन है—'हिंसादिरहितः कायः' अर्थात् शरीरको हिंसा आदिसे मुक्त रक्खे। 'हिंसादि' कहकर त्रिविध हिंसाओंसे बचनेके लिये कहा गया है। हिंसा तीन प्रकारकी है—(१) कायिक—अर्थात् शरीरसे या शरीरके द्वारा किसी अस्त्र-शस्त्रसे दूसरे मनुष्यके शरीरपर आघात करना। मृत्यु होनेसे ही हिंसा होती हो, ऐसी बात नहीं है। बल्कि मार डालनेकी

इच्छासे किया हुआ आघात भी हिंसा कहलाती है। (२) वाचिक अर्थात् कठोर वाणीके प्रयोगसे किसीके हृदयके ऊपर आघात पहुँचाना, मनुष्यका तिरस्कार करना, मृत्युकी धमकी देना अथवा किसी भी दूसरी रीतिसे मनुष्यको शब्दोंद्वारा असह्य आघात पहुँचाना—यह सब वाचिक हिंसा कहलाती है। (३) मानसिक हिंसा—अर्थात् मनसे किसीका बुरा चाहना, किसी मनुष्यका नाश हो—ऐसा संकल्प करना, अथवा किसी मनुष्यके लिये अशुभ विचारका सेवन करना—किसीके बुरे होनेमें आनन्द मानना, किसीका बुरा होते देखकर उसका समर्थन करना, यह सब मानसिक हिंसा है। इन तीनों प्रकारकी हिंसाओंसे मुक्त होनेका नाम है—शरीरको हिंसामुक्त करना। इसके लिये कायाका तप श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(१७। १४)

'देव'—अर्थात् अपने-अपने इष्टदेवका पूजन करना। 'द्विज'—अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, जिनको यज्ञोपवीतका अधिकार है। इनमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण है। अतएव ब्राह्मणका पूजन करना, उसे सुख पहुँचाना। अपने-अपने गुरुका पूजन करना। गुरु पास हों तो शरीरसे उनकी सेवा करना और दूर हों तो स्मरण-रूप सेवा करना। इस प्रसङ्गमें दूसरी पूजा तो परम्परासे ईश्वर-पूजन होती है, परंतु गुरुकी पूजा प्रत्यक्ष ईश्वर-पूजन है। 'प्राज्ञ' अर्थात् विद्वान्, साधु-संत, महात्मा, संन्यासी तथा विद्वान् मनुष्यका पूजन करना। उनकी सेवा करना। दूसरा, शौचका पालन करना, बाह्याभ्यन्तर पवित्र रहना अर्थात् शरीर तथा मनको पवित्र रखना। तीसरा, आर्जव अर्थात् सरलता है। जीवनके व्यवहारमें सरलता रखना अर्थात् सीधे मार्गसे चलना और निर्दोष जीवन बिताना। इस विषयमें बहुत सुन्दर नियम बतलाते हुए भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'सारे धर्मोंका सार अर्थात् रहस्य मैं तुमसे कहता हूँ सावधान होकर सुनो। फिर उसे एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे निकाल न दो, बल्कि हृदयमें धारण करो, और उसका निरन्तर मनन करके उसे अपने जीवनमें उतारो। केवल सुननेसे या सुनकर कण्ठस्थ कर लेनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। बल्कि सुनकर हृदयमें निश्चय करके उसे जीवनमें उतारो। तभी कार्य सधेगा।

'आत्मनः प्रतिकूलानि'—अर्थात् जो व्यवहार तुमको प्रतिकूल लगे, दूसरोंके तुम्हारे प्रति किये गये जो व्यवहार तुमको दुःखद जान पड़ें, वैसे व्यवहार 'परेषां न समाचरेत्'—अर्थात् दूसरोंके प्रति कभी न करो। अर्थात् दूसरोंके जिन-जिन व्यवहारोंसे तुम्हें दुःख होता हो, वैसे व्यवहार तुम दूसरोंके प्रति न करो। उदाहरणके लिये कोई तुम्हारा तिरस्कार करता है और वह तुम्हें अच्छा नहीं लगता तो तुम किसी दूसरेका तिरस्कार न करो। तुमसे कोई झूठ बोले और उससे तुम्हें दुःख होता हो तो तुमको किसीसे झूठ नहीं बोलना चाहिये। कोई तुम्हें ठगता है और तुमको अच्छा नहीं लगता है तो तुम्हें भी किसीको नहीं ठगना चाहिये। कोई तुम्हारी निन्दा करता है और तुमको ठीक नहीं लगता तो तुम भी किसीकी निन्दा न करो। यह सब नकारात्मक बातें कही गयीं। इससे उल्टा स्वीकारात्मक बातें इस प्रकार कही जा सकती हैं—कोई तुम्हारे प्रति मधुर और सत्य बोले और वह तुम्हें अच्छा लगे तो तुम सबसे मधुर और सत्य बोलो। जो तुम्हारे साथ ईमानदारीका बर्ताव करे और उससे तुम्हें प्रसन्नता प्राप्त होती हो तो तुम्हें सबके साथ ईमानदारीका बर्ताव करना चाहिये। यदि कोई तुम्हें आदर-सत्कार प्रदान करे और वह तुम्हें अच्छा लगता हो तो तुम्हें सबका आदर-सत्कार करना चाहिये।

यही बात श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीतामें विधि और निषेध दोनों रीतिसे कही है। जैसे—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

अर्थात् जो योगी सब प्राणियोंमें अपने ही समान सुख और दुःखको एक-सा देखता है, उसे मैं योगियोंमें श्रेष्ठ मानता हूँ। अधिक स्पष्ट कहें तो कह सकते हैं कि जो योगी ऐसा देखता है कि जिस-जिस भाव या व्यवहारसे मुझे दुःख होता है, तदनुसार ही सब प्राणियोंको दुःख होता है। उसी प्रकार जिस-जिस व्यवहार या भावसे मुझे सुख होता है, तदनुसार ही प्राणीमात्रको सुख होता है। ऐसा योगी ही श्रेष्ठ योगी है; क्योंकि जिस व्यवहारसे अपनेको दुःखकी प्रतीति होती है, वैसे व्यवहारका आचरण वह अन्यके प्रति नहीं करता। इतना ही नहीं, बल्कि जिस व्यवहारसे अपनेको सुख मिलता है, वैसा ही व्यवहार दूसरे प्राणियोंके प्रति करता है। और भगवान् कहते हैं कि ऐसा योगी श्रेष्ठ है।

चौथा ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यका पालन चारों वर्णों और आश्रमोंके लिये विशेष उपयोगी है। गृहस्थ शास्त्रकी मर्यादामें रहकर गृहस्थाश्रमको भोगे तो वही उसका ब्रह्मचर्य-पालन कहलायेगा। अन्य तीन आश्रमोंमें तो इसका कठोर पालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्यके पालनसे जीवन सुखरूप बनता है; क्योंकि इससे शरीरकी तथा मन-बुद्धिकी शक्ति प्रज्वलित रहती है। पाँचवाँ अहिंसा है। इसके विषयमें ऊपर बहुत कहा जा चुका है, इसलिये यहाँ कुछ कहना नहीं है।

ईश्वर-पूजनके जो त्रिविध साधन—(१) रागादिसे दूर रहकर मनको पवित्र रखना (२) असत्य आदिसे दूर रहकर वाणीको पवित्र रखना और (३) हिंसा आदिसे दूर रहकर शरीरको पवित्र रखना आदि हैं. ये भी एक प्रकारसे ईश्वर-पूजन ही हैं। यह अब ठीक समझमें आ गया होगा।

इससे भी अधिक उत्कृष्ट प्रकारका ईश्वर-पूजन है, जो कुछ निश्चित कालतक साधन करनेके बाद अपने-आप होता रहता है। वह इस प्रकार है—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पद्योः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

अति उच्चकोटिका भक्त भगवान् शङ्करकी स्तुति करते हुए उनसे कहता है—'हे शम्भो! हे भोलानाथ! मेरे शरीररूपी मन्दिरमें तुम्हीं आत्मारूपमें विराजमान हो, तुम्हारी अर्द्धाङ्गना पार्वतीजी मेरी बुद्धिरूपमें विराजती हैं और मेरे प्राण तुम्हारे सहचर अर्थात् साथी हैं। इस शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ विषय-भोग भोगती हैं, उसके द्वारा तुम्हारा पूजन हुआ करता है। मेरी निद्रा समाधि-दशा है और वाणीसे जो-जो शब्द उच्चारित होते हैं, उनसे सब तुम्हारी स्तुति हो रही है। पैरोंसे जो संचरण हो रहा है, वह तुम्हारी परिक्रमा है। सारांश यह है कि हे प्रभो! जो-जो कायिक, वाचिक या मानसिक क्रिया होती है, वह सब तुम्हारा पूजन हो रहा है।'

जब देहाध्यास सर्वथा छूट जाता है और सर्वात्मभाव पूर्ण परिपक्व हो जाता है, तब ऐसी स्थिति प्राप्त होती है। ऐसी स्थितिको ही ज्ञानीकी सहज समाधि-दशा कहते हैं। ऐसी स्थिति कब होती है, यह दिखलाती हुई भगवती श्रुति कहती हैं—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परात्परम्॥

जब देहाभिमान अर्थात् मैं यह शरीर हूँ—ऐसा जो आत्माको अभिनिवेश हो गया है और जिससे विशुद्ध परमात्मस्वरूप आत्माका जो जीवभाव दृढ हो गया है, वह

तत्त्वज्ञानके साधनके द्वारा बिल्कुल निर्मूल हो जाता है, तथा परमात्मा स्वयं ही चराचर भूतमात्रमें आत्मरूपसे विराजता है, यह भाव दृढ़ हो जाता है। अर्थात् जो कुछ भूत-भौतिक प्रपञ्चरूपमें दिखलायी देता है, वह आत्माका ही विलास है—ऐसा यथार्थ बोध हो जाता है, तब सारी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ ईश्वर-पूजनरूप हो जाती हैं।

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम्॥

अर्थात् ब्राह्मणादिका देवता अग्नि है, योगियोंका देवता अपने हृदयमें स्थित अन्तरात्मा है, साधनहीन मनुष्यका देवता मूर्तियाँ हैं और तत्त्वज्ञानीका देवता सर्वत्र रहता है। इसलिये तत्-तत् प्रकारके देव-पूजनका विधान है।

इस प्रकारकी सहज समाधिकी दशाका कबीर साहबने अपने एक भजनमें इस प्रकार गान किया है—

साधो, सहज समाधि भली।
जहँ-जहँ डोलौं सो परिकरमा, खाउँ पिउँ सो पूजा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, भाव मिटावौं दूजा॥
आँख न मूँदौं, कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं॥
कह कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख सुखसे कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई॥

इस छोटेसे निबन्धमें हमने देखा कि एक-दो घंटे ईश्वरका पूजन करना ईश्वरकी प्राप्तिके लिये पर्याप्त साधन नहीं है। परंतु इसके लिये सम्पूर्ण जीवनको ही पूजन या भजनरूप बना देना होगा। और वह कैसे बनता है, तथा उसके लिये क्या-क्या साधन करना चाहिये—यह भी हमने देख लिया। बल्कि हमने यह भी देख लिया कि मनुष्य-जीवनका ध्येय भोग-सामग्रीका संग्रह करना नहीं है, किंतु ईश्वर-प्राप्ति कर लेना है; क्योंकि केवल मनुष्य-शरीरसे ही नर नारायण हो सकता है, जहाँ भोग-सामग्री तो प्रत्येक योनिमें प्रत्येक देहधारीको प्रारब्धके अनुसार अपने-आप ही मिल जाती है।

ईश्वर हमको बल दे, जिससे हम विषयसे विमुख होकर ईश्वर-प्राप्तिके साधनमें प्राणपनसे लग जायँ। अष्टावक्र मुनिने जो कहा है, उसे ध्रुव मानकर अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें हमें लग जाना चाहिये। वह महामन्त्र है—

'मुक्तिमिच्छसि चेत् तात विषयान् विषवत् त्यज।'

मैं अपने भगवान्‌का खिलौना बन गया हूँ

मैं यह स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे प्रियतम भगवान् सदा मेरे साथ रहते हैं—हर समय, हर अवस्थामें, हर जगह। और वे सदा सर्वत्र मेरे योगक्षेमका वहन करते हैं। मैं नित्य निरन्तर उनकी पवित्र तथा अमोघ संरक्षतामें रहता हूँ। सांसारिक स्थिति कैसी भी क्यों न हो—मेरे पास चिन्ता, दुःख, पाप, पतन आदि आ ही नहीं सकते।

मैं अब सर्वथा निश्चिन्त हूँ, चाहे मैं कहीं रहूँ। किसी भी स्थितिमें रहूँ। मेरी सारी चिन्ता वे अपने-आप ही करते हैं। करते हैं या नहीं, करते हैं तो क्यों करते हैं, इसकी भी मुझे न चिन्ता है, न स्मृति ही। मेरी दृष्टिमें तो सर्वत्र सदा वे-ही-वे हैं। उन्होंने अपना वरद हस्त मेरे मस्तकपर धर रक्खा है। वे मुझे जिधर ले जाते हैं, उधर ही चला जाता हूँ; जहाँ ठहराते हैं, वहीं ठहर जाता हूँ; जो कुछ करवाते हैं, वही करता हूँ। मेरेद्वारा सब कुछ वही कर-करा रहे हैं। मैं तो पुतलीमात्र हूँ। इसलिये अब मैं पूर्णरूपसे चिन्तारहित हो गया हूँ। उसका खिलौना बन गया हूँ।

धर्मपालनार्थ प्राणोत्सर्गसे श्रेयप्राप्ति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जो मनुष्य अपने आपको धर्मके लिये समर्पित कर देता है उसकी इस लोकमें तो कीर्ति होती है एवं मरनेपर वह सद्‌गतिको प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वधर्मपालनपर जोर देते हुए गीतामें अर्जुनके प्रति कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३।३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

यदि अपने धर्मके पालनमें कुछ कमी भी रह जाती है तो भी वह कल्याणकारक होता है; फिर अच्छी तरह धर्मका पालन करनेसे कल्याण हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है।

भारतके इतिहासमें अनेक ऐसे वीर पुरुषोंके चरित्र आये हैं जिन्होंने धर्मरक्षार्थ अपने प्राणोंकी भी बाजी लगा दी थी। पूर्वकालकी बात है, चक्रवर्ती सम्राट् महाराज दिलीपके कोई संतान नहीं थी। इससे अन्य सब प्रकारके सुख रहते हुए भी वे दुखी रहा करते थे। संतानप्राप्तिका उपाय पूछनेके लिये वे अपनी धर्मपत्नी राजमहिषी सुदक्षिणाके साथ अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठके आश्रममें गये। वशिष्ठजीने उनको कामधेनुपुत्री नन्दिनीकी सेवा करनेका आदेश दिया। उनके आदेशके अनुसार नन्दिनीकी भलीभाँति सेवा करते हुए बीस दिन बीत गये। इक्कीसवें दिन नन्दिनीने राजाकी परीक्षा लेनी चाही। राजा जंगलमें जब पर्वतकी शोभा निहारनेमें दत्तचित्त थे, उसी समय उन्हें अचानक नन्दिनीका भयभरा करुण क्रन्दन सुनायी पड़ा। राजाने पीछेकी और मुड़कर देखा तो वे स्तब्ध रह गये। एक विशाल वनराज सिंहने नन्दिनीको दबोच रक्खा था। राजाने उसे मारनेके लिये धनुषपर तीर चढ़ाया; परंतु उनका हाथ वहीं धनुषके साथ चिपक गया। निरुपाय होकर राजा चुपचाप खड़े रहे तो सिंह गर्जना करता हुआ-सा बोला—'राजन्! मुझे कोई साधारण सिंह न समझ लेना। मैं भगवान् शङ्करका गण हूँ और उनकी आज्ञासे सामने दिखायी देनेवाले इस देवदारके रक्षार्थ यहाँ रह रहा हूँ। जो पशु कालके वशीभूत होकर यहाँ आ जाता है वह मेरा भक्ष्य है। आज यह गौ मेरा भोजन बनी है। अब आप लौट जाइये। इसे मेरे शक्तिशाली पंजोंसे मुक्त करा सकना आपके हाथकी बात नहीं है।' राजा बोले, 'वनराज! मैं गुरुकी आज्ञासे इस गौकी सेवामें तत्पर हूँ। आप भगवान् शङ्करके अनुचर हैं सो बहुत अच्छी बात। भगवान् शङ्कर भी मेरे पूजनीय हैं; परंतु मेरे गुरु महाराजके धनको भी मैं अपनी आँखोंके सामने नष्ट होता कैसे देख सकता हूँ।'

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां
सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्ने-
र्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्॥

(रघुवंश, सर्ग २)

'अतः हे सिंह! आप मेरे इस विनाशी शरीरको खाकर अपनी क्षुधा शान्त कीजिये एवं इस अबला बेचारी गौको छोड़ दीजिये।'

सिंह बोला—राजन्! मूर्ख न बनिये। यदि आप जीवित रहे तो न जाने आपके हाथसे अन्य कितने जीवोंकी रक्षा होगी तथा इस गौकी जगह आप अन्य हजारों दुधारू गायें देकर अपने गुरु महाराजको भी प्रसन्न कर सकते हैं। राजन्! अपने इस कल्याणकारी,

शक्तिशाली देहकी रक्षा कीजिये । आपका राज्य पूरी पृथ्वीपर स्थित है तथा वह स्वर्गके ही समान सब प्रकारसे सम्पन्न है । शरीर न रहनेसे आप उसका भी भोग कैसे कर सकेंगे ?

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां
भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्न-
मृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥
(रघुवंश, सर्ग २)

राजा बोले—सिंह ! मैं क्षत्रिय हूँ । कष्टमें पड़े हुए जीवकी रक्षा करना ही मेरा धर्म है । फिर, इस गौकी तो मैं सेवामें संलग्न हूँ । मैं इसे यदि न बचा पाऊँ तो मुझे राज्यकी तथा प्राण रखनेकी भी क्या आवश्यकता है—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥
(रघुवंश, सर्ग २)

इस तरह राजाने सिंहको प्रसन्न कर लिया तथा सिंह गौके बदले उन्हें खा लेनेको राजी हो गया । सिंहके द्वारा खाये जानेकी प्रतीक्षा करते हुए राजा सिर नीचा करके ज्यों ही बैठे त्यों ही आकाशसे देवताओंने पुष्पवृष्टि की । नन्दिनी प्रसन्न होकर बोली, 'राजन् ! उठो, यह सब मेरी ही लीला थी । वास्तवमें कोई भी पशु मुझे आक्रान्त नहीं कर सकता ।' नन्दिनीने उनको वंश चलानेवाले पुत्ररत्नकी प्राप्तिका वर दिया । आगे चलकर इसी वंशमें भगवान् रामका प्राकट्य हुआ ।

इसी तरह महाराज उशीनरके पुत्र राजा शिबिका भी उपाख्यान आता है । महाराज शिबि अपने समयके प्रख्यात धर्मात्मा एवं शरणागतवत्सल नरेश थे । एक दिन जब वे अपनी राजसभामें बैठे थे तभी अचानक एक कबूतर, जो अत्यन्त थका हुआ तथा भययुक्त दिखायी दे रहा था, उनकी गोदमें आकर गिर पड़ा । राजाने उसके भयके कारणको खोजनेके लिये ऊपर देखा तो एक बाज उन्हें दिखायी दिया । बाज बोला—'महाराज ! मेरे इस शिकारको छोड़ दीजिये, इससे मेरा तथा मेरे परिवारका पोषण होगा । नहीं तो, मैं तथा मेरा कुटुम्ब भूखों मर जायँगे—उस पापके आप भागी होंगे ।'

महाराज शिबि अत्यन्त दुविधामें पड़ गये । शरणमें आये हुए कबूतरको भी वे कैसे छोड़ सकते थे तथा बाजका कहना भी ठीक था । राजा बोले—'बाज ! तुम्हें तो अपने पालनके लिये मांसकी ही आवश्यकता है न ? इस शरणागत कबूतरको तो मैं किसी तरह छोड़ नहीं सकता । इसके बदलेमें मैं इसके तौलके बराबर अपने शरीरका मांस काटकर तुझे दे देता हूँ ।' राजाकी इस बातसे बाज सहमत हो गया । राजाने तराजू मँगाया तथा कबूतरको एक पलड़ेमें रखकर अपनी जंघासे मांस काटकर दूसरे पलड़ेपर रक्खा परंतु कबूतरका पलड़ा भारी रहा । राजाने और मांस काटकर रखा परंतु वह कबूतरवाला पलड़ा किसी भी तरह ऊँचा नहीं हो पा रहा था । अन्तमें राजा पूरे-के-पूरे तराजूमें बैठ गये । उनका तराजूमें बैठना ही था कि वहाँ न बाज दिखायी दिया न कबूतर । वास्तवमें स्वर्गसे देवराज इन्द्र बाजका एवं अग्निदेव कबूतरका रूप धारण करके महाराज शिबिकी शरणागतवत्सलताका परीक्षण करने आये थे । महाराज शिबिकी शरणागतवत्सलताको देखकर वे दंग रह गये और महाराजकी कीर्ति चिरस्थायी हो, ऐसा आशीर्वाद देकर वे लोग स्वर्ग चले गये ।

इस तरह हमारे शास्त्र-पुराणोंमें बहुत-सी गाथाएँ आती हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि उस समयके जन-जीवनमें धर्मका कितना ऊँचा स्थान था । लोग धर्म-पालनके लिये प्राणोंका भी परित्याग करनेको तत्पर रहते थे, परंतु धर्मका त्याग नहीं करते थे ।

इतिहास बताता है कि भारतका मुगलसम्राट् अलाउद्दीन

खिलजी चित्तौरकी महारानी पद्मिनीके अनुपम सौन्दर्यपर आसक्त हो गया था तथा पद्मिनीको अपनी रानी बनानेके लिये उसने यथासम्भव सभी उपाय कर लिये, पर किसी भी तरह वह अपने उद्देश्यमें सफल न हो सका। शेषमें उसने अपनी विशाल सेनाके साथ चित्तौरगढ़पर चढ़ाई कर दी। चित्तौरके वीर एक-एक करके युद्धभूमिमें काम आने लगे। राजपूतोंका अन्तिम जत्था जब किलेसे बाहर लड़ाई करने निकला, तब भीतरकी सभी स्त्रियाँ महारानी पद्मिनीके नेतृत्वमें जौहर (अग्नि-प्रवेश) के लिये तैयार खड़ी थीं। महारानी पद्मिनीका धर्म-रक्षाके लिये भीषण आगमें प्रवेश करना था कि शेष सभी महिलाएँ एक-एक करके उस धधकती हुई आगमें कूद पड़ीं। देखते-ही-देखते उनके शरीर भस्मसात् हो गये। अलाउद्दीनकी विजय हुई; परंतु किलेमें प्रवेश करनेपर उन भारतीय महिलाओंके अपूर्व बलिदानोंको देखकर उसे दाँतों-तले अँगुली दबानी पड़ी।

भारतके पुरुष तो क्या महिलाएँ एवं बच्चे भी धर्म-पालनके लिये प्राणोंतककी आहुति देनेके लिये आगा-पीछा नहीं देखते थे।

यवनसम्राट् औरंगजेबका भीषण अत्याचार उन दिनों जोरोंपर था। हिंदुओंको अपने धर्मका पालन करनेके लिये बड़ी-बड़ी कीमतें चुकानी पड़ती थीं। ऐसे ही समयमें गुरु गोविन्दसिंहके दो छोटे बच्चोंने अपने जीवित शरीरको दीवालमें जिंदा चुनवा देना स्वीकार कर लिया; परंतु हिंदू-धर्मको छोड़कर मुस्लिम-धर्म ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। उन्हें बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये पर वे छोटे-छोटे बच्चे धर्मपर डटे रहनेके अपने निश्चयसे टस-से-मस नहीं हुए। अन्तमें उन बच्चोंको जीवित ही दीवालमें चुनवाना आरम्भ कर दिया गया। जब दीवाल छोटे भाईके गलेतक आ गयी एवं बड़े भाईकी छातीतक ही आयी तो बड़े भाईकी दोनों आँखोंसे आँसू गिरने लगे। उसे रोता देख छोटा भाई तमककर बोला—'भैया! क्या आप मरनेसे डर रहे हैं?' बड़े भाईने उत्तर दिया—'नहीं, कोई भी हिंदू-बच्चा धर्मके लिये मरनेसे नहीं डरता। किन्तु तुम अवस्थामें मुझसे छोटे होकर भी धर्मके लिये मरनेमें मुझसे अग्रणी हो और मुझे भगवान्‌के धाममें जानेमें देर हो रही है। इसी कारण मुझे रोना आ रहा है। भैया! तुम धन्य हो।'

परंतु आज हम देख रहे हैं कि उसी भारतवर्षके बहुत-से लोग लोभके वशीभूत होकर धर्म, कर्म, संस्कृति—सबका परित्याग करते जा रहे हैं! जिस देशके भक्त प्रह्लादने धर्म एवं ईश्वरकी सत्तापर दृढ़ विश्वास रखते हुए अनेक कष्ट सहे, उन्हें बड़े-बड़े पर्वतोंसे गिराया गया, गजराजोंसे कुचलवाया गया, समुद्रमें फेंका गया, भीषण आगमें झोंका गया; परंतु फिर भी वे ईश्वरभक्तिमें अडिग रहे, अन्तमें उनके पिता हिरण्यकशिपु तलवार लेकर उन्हें मारनेको उद्यत हुए तो भगवान्‌ने निर्जीव खम्भेमेंसे प्रकट होकर भक्तको बचाया। आज उसी देशके लोग धर्म और ईश्वरका मखौल उड़ा रहे हैं! जो कोई थोड़ा-बहुत धर्मका पालन करते हैं वे भी अधिकांशमें मान-बड़ाईके लिये करते हैं। निष्कामभावसे करनेवाले तो बहुत ही कम हैं। धर्मपालन न करनेकी अपेक्षा तो सकाम-भावसे धर्मका पालन करना भी अच्छा है; परंतु कर्तव्य-बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक जो धर्मपालन किया जाता है वही कल्याणकारक है।

मनुष्य-जीवन बड़े भाग्यसे मिला है। इसका समय अल्प है। अतः जबतक हाथमें समय है तभीतक हम लोगोंको चेत जाना चाहिये एवं धर्मपालनके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये समय बीतनेपर पश्चात्ताप करना पड़ सकता है। भारी-से-भारी विपत्तिके आनेपर भी हमें अपने धर्मका किसी भी हालतमें त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें कहा गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥
(स्वर्गारोहण० ५।६३)

अर्थात् 'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी कभी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

संसारके सभी सम्बन्ध माने हुए एवं अनित्य हैं, मनुष्य अकेला ही इस संसारमें आता है एवं अकेला ही वापस जाता है। स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव आदिमेंसे कोई भी उसका साथ नहीं दे सकता। एकमात्र धर्म ही उसके साथ जाता है। कहा गया है—

मृतं शरीरं संत्यज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

अतः मनुष्यको किसी भी कालमें अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। मरण-संकट भी उपस्थित हो जाय तो भी मनुष्यको चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्युका वरण कर ले, परंतु स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे। इसीमें उसका सब प्रकारसे कल्याण है।

मायाकी प्रबलता और उसके निवारणका उपाय

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इस संसारको संतों तथा महात्माओंने दुःखरूप एवं मिथ्या बतलाया[1] है। वेदान्ती यहाँके सुखोंको भी कुपित फणी (सर्प) के फणातपत्र (छत्र) के छाया-सुखके तुल्य परिणाममें अत्यन्त भयंकर बतलाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इसे दुःखालय, अशाश्वत और अनित्य बतलाते हैं। (गीता ९ । ३३; ८ । १५) । भागवतकार इसे 'दुःखग्राम' कहते हैं[2]। यों तो भगवद्भजनमें सहायक होनेसे दुःख भी वरणीय ही है।[3] किंतु जहाँ दुःख सर्वथा अटल, असह्य तथा अपरिहार्य प्रतीत होने लगे, वहाँके लिये इस सम्पूर्ण विश्वको मायिक, असत्, स्वप्नवत् मिथ्या तथा निरा भ्रम बतलाया गया है। ऐसा समझ लेनेपर क्लेशका अन्त हो जाता है। इस सम्बन्धमें कई आख्यान बड़े उपयोगी हैं।

मार्कण्डेयजीने दीर्घकालतक तपस्या की। भगवान् नारायणने उनसे वर माँगनेको कहा। महर्षिने भगवान्की माया देखनेकी इच्छा व्यक्त की। फलतः एक बार जब वे पुष्पभद्रा नदीके तटपर संध्या-उपासना कर रहे थे, महान् वायु एवं कराल मेघोंके प्रचण्ड नादसे आकाश व्याप्त हो गया। मूसलाधार वृष्टि होने लगी। अनवरत वर्षा होनेसे चारों समुद्र उमड़ पड़े। मुनि गिरते-पड़ते भागते हुए प्रयाग, फिर अक्षयवटकी शरणमें पहुँचे। वटपर चढ़नेपर एक प्रभापूर्ण, मरकत-श्याम, सुन्दरतम शिशु दीखा। उसे देखनेसे इनको बड़ी प्रसन्नता हुई और सब क्लेश जाता रहा। उसके समीप पहुँचकर ये उससे कुछ पूछना ही चाहते थे कि उसके श्वाससे मच्छरके तुल्य खिंचकर उसके शरीरके भीतर प्रविष्ट हो गये।

'सोऽन्तःशरीरं मशको यथाविशत् ।
(श्रीमद्भा० १२ । ९ । २७)

उसके उदरके भीतर इन्होंने सभी देश, द्वीप और अपनी

१. (क) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । (योगदर्शन २ । १५)

(ख) तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः । (सांख्यदर्शन ६ । ७-८)

(ग) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ (गीता ५।२२)

(घ) दुःखाङ्गारकतीव्रः संसारोऽयं महागहनः ।

२. जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः ।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते ॥
(श्रीमद्भा० १ । ३ । २९)

इस श्लोकमें आये 'दुःखग्राम' पदका श्रीधरस्वामी तथा अन्य व्याख्याताओंने संसार ही अर्थ किया है।

३. (क) 'विपदः सन्तु नः शश्वत्' (भा० १ । ८)

(ख) सुखके माथे सिल परो जो नाम हृदयतें जाइ ।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम रटाइ ॥

तपोभूमि, हिमालयपर्वत, अपना आश्रम, ऋषिगण एवं पुष्पभद्रा नदीको भी देखा—

हिमालयं पुष्पवहां च तां नदीं
निजाश्रमं तत्र ऋषीनपश्यत् ।

(श्रीमद्भा० १२ । ९ । ३०)

अन्तमें उनके अधिक व्याकुल होनेपर यह सब प्रपञ्च क्षणभरमें तिरोहित हो गया।

यह कथा भागवत, महाभारत एवं मत्स्यादि पुराणोंमें बार-बार आयी है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपने पवित्र शब्दोंमें इसे इस प्रकार स्मरण किया है—

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भएउ भूप मन मनहुँ प्रयागू॥
सिय सनेह बट बाढ़त जोहा। तापर राम प्रेम सिसु सोहा॥
चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु॥

काकभुशुण्डिको भी इस प्रकारकी लीलाएँ दिखीं। क्लेश भी हुआ, व्याकुलता भी हुई। फिर भगवत्कृपासे इसकी शान्ति भी हुई। विशेषकर यह मायादर्शन भक्तके अहंकारके बाद प्रकट होता है। नारदजीको कामविजयका गर्व हुआ, फिर मायाजनित भीषण क्लेश सामने आया। इसीलिये शंकरजीने कहा था—

होइहैं कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सोइ खोवै चह कृपानिधाना॥

भविष्यपुराण भविष्योत्तरखण्ड अध्याय ३ तथा देवीभागवत स्कन्ध ६ अध्याय २८-३० में नारदजीने भगवान्से माया-दर्शनकी प्रार्थना की और उन्हें स्त्रीरूपमें परिणत होकर कई संतानोंको उत्पन्नकर, उनकी मृत्युसे दुखी होना पड़ा। वाराहपुराणके १२५ वें अध्यायमें भगवान् विष्णुने पृथ्वीसे बतलाया है कि वनस्थलीका नगर बन जाना, नगरका मरुस्थल बन जाना, भूधरका सागर हो जाना, सागरका भूधर हो जाना सब मेरी ही मायाके चमत्कार हैं। जीवको गर्भमें ज्ञान रहना, जन्मते ही सब भूल जाना, दसों इन्द्रियोंके विभिन्न गुण,—आँखोंसे देखना, कानोंसे सुनना आदि सब शक्तियाँ मायाका ही चमत्कार है।

तदनन्तर उन्होंने सोमशर्मा ब्राह्मणकी कथा कही। सोमशर्माने भी दीर्घकालके तपोनुष्ठानके बाद भगवान्से माया-दर्शनकी प्रार्थना की। फलतः एक बार जब वह ऋषिकेशमें गङ्गास्नान कर रहा था, तब देखता क्या है कि किसी निषाद-स्त्रीके गर्भमें है। फिर वह कन्यारूपमें उत्पन्न हुआ। उसका विवाह एक निषाद युवकसे हुआ और कई बच्चे भी उत्पन्न हुए। अन्तमें जब वह श्रमार्त होकर एक दिन पुनः वहीं स्नान करने पहुँची, तब अपनेको पूर्वरूपमें परिणत पाया। तबतक उसके पूर्वशरीरके दण्ड-कमण्डलु यों ही पड़े थे। काकभुशुण्डिके समान इन सभी लोगोंने भी बस 'उभय घड़ी महँ यह सब देखा।' थोड़ी ही देरमें ये सब माया-कौतुक देखे। फिर भगवान्ने दर्शन देकर इन्हें सावधान किया।

योगवासिष्ठमें तो ऐसी कई कथाएँ हैं। उत्पत्ति-प्रकरणमें इन्द्रजालोपाख्यान[1] है। इसमें उत्तरापाण्डवके राजा लवणकी कथा है। एक बार इसके दरबारमें एक इन्द्रजालिक अश्वारूढ़ होकर आया और राजासे वहीं बैठे-बैठे तमाशा देखनेकी प्रार्थना की। उसने राजाके सामने मोरछल घुमाया और राजा मूर्छित-सा हुआ। उस बेहोशीमें उसने देखा कि वह आनीत अश्वपर आरूढ़ होकर विहारके लिये अकेले ही चल पड़ा और एक सघन वनमें प्रविष्ट हुआ। अन्तमें मार्गभ्रष्ट होकर एक निर्जल देशमें गया, जहाँ उसका अश्व मर गया और बड़े क्लेशसे उसने रात काटी। प्रातः होते ही उसे एक चाण्डाल-कन्या मिली, जिसके पास जल एवं भात था। राजा प्याससे मर रहा था। बड़ी अनुनय-विनयके बाद विवाहके शर्तपर चाण्डालीने राजाको जल दिया और पीछे प्रसन्न होकर चावल भी दे दिया। विवाहके बाद उस चाण्डालीसे राजाके आठ संतान हुए। तदनन्तर वहाँ भीषण अकाल पड़ा। राजा स्त्री-बच्चोंसहित भागा। एक वृक्षके नीचे चाण्डाली थककर सो गयी। बड़ा बच्चा भूखसे छटपटाकर रक्तमांस माँगने लगा। चाण्डालराजने मोह-कृपा आदिसे अभिभूत होकर उसे अपना मांस ही देना चाहा। बालक वह भी माँगने लगा। चिता बनाकर जब राजा कूदना ही चाहता था कि यहाँ (राजदरबारमें) वह सिंहासनपर एकाएक गिरने लगा और उसकी मूर्छा टूट गयी। मन्त्रियोंने उसे सँभाला और उसने सब वृत्तान्त सुनाया। पीछे उसकी जाँच-पड़ताल की गयी। स्वयं मन्त्रियोंसहित राजा उस देशमें गया। वहाँ उस तरुणी चाण्डालीकी वृद्धा माँ मिली। वहाँ उसने सभी वृत्तान्तको सत्य तथा दिव्य चाण्डालके ओझल हो जानेपर वृक्षके नीचे अपनी दिव्यकन्याके कटारद्वारा आत्मघात करनेकी बात बतलायी।—

हा पुत्रि पुत्रावृतसर्वगात्रे
दिनत्रयाभोजनजर्जराङ्गि ।
क्रूरवासिना मर्मणि जीर्णदेहाः
कथं क मुक्ता भवतासवस्ते ॥

(योग० ३ । १२० । १४)

१. द्रष्टव्य अध्याय १०४से १२०।

योगवासिष्ठके ही उपशमप्रकरणके ४४ से ५० तकके अध्यायोंमें गाधि[1] ब्राह्मणकी ऐसी ही कथा है। गाधि ब्राह्मणने भी बड़ी तपस्याके बाद भगवान्से मायादर्शनकी इच्छा व्यक्त की—

मायामिमां त्वद्रचितां भगवन् पारमात्मिकीम् ।
द्रष्टुमिच्छामि संसारनाशीमान्ध्यैककारिणीम् ॥
(योग० ५ । ४४ । १३)

फिर क्या था, कुछ देर बाद जब वह स्नान करने लगा, तब स्नान-ध्यान-मन्त्रादिको भूलकर उसने देखा कि वह किसी चाण्डालीके गर्भमें प्रविष्ट है। तत्पश्चात् चाण्डालशिशुके रूपमें उत्पत्ति, वृद्धि, चाण्डाली-परिणय, संतति-परम्परा-प्राप्ति, चाण्डालीनिर्याण, फिर निर्विण्ण होकर अनेक देश-देशान्तरोंमें घूमते-घामते कीरमण्डलकी श्रीमतीपुरीमें पहुँचना, वहाँके राजाकी मृत्यु और अमात्यमण्डलद्वारा नियुक्त मंगलहस्तीद्वारा उठाकर अपने गण्डस्थल (शिरोदेश) पर विराजित करना तथा कीरमण्डलका राजा बन जाना आदि बातें एक-पर-एक गाधिने अपने जीवनमें विस्तारसे घटती देखीं। आठ वर्षोंतक वह बड़े आनन्दसे कीरमण्डलपर शासन करता रहा। तत्पश्चात् एक दिन उसका पूर्वपरिचित कोई चाण्डाल उससे एकान्तमें उद्यान-विहार करते समय मिला और उसे 'करंज' नामसे पुकारा। उसके लाख बहाना करनेपर भी बात श्रीमतीपुरीमें फैल ही गयी और वहाँके सभी द्विजातिगण चाण्डाल-दूषित होनेके कारण अग्निप्रवेशद्वारा आत्मशुद्धि करने लगे। सभी लोगोंको मरते देख चाण्डालराज भी अग्निमें कूद पड़ा। इतनेमें गाधि ब्राह्मण वहाँ जलमें समाहित हो गया और वह बाहर निकला। जलमें यह सब तमाशा देखते हुए उसे प्रायः ६८ वर्ष बीत गये।[2] पर वहाँ तो दो घड़ी भी न हुई थी। यह सब देखकर वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा था। तबतक ब्रह्माके पास दुर्वासाके पहुँचनेकी तरह गाधिके पास एक अतिथि पहुँचा। उसने 'करंज' वाली सारी घटना ज्यों-की-त्यों सुनायी तथा स्वयं भी उस देशमें रहनेसे किंचित् सशङ्क होने तथा प्रायश्चित्तार्थ प्रयाग स्नानकर लौटनेकी बात बतलायी। फिर तप करनेपर भगवान्ने प्रकट होकर गाधिको अपनी मायाका रहस्य बतलाया।

'योगवासिष्ठ' का मण्डपाख्यान भी प्रायः इसी प्रकारका है। गोस्वामी तुलसीदासजीको यह सब ज्ञात था। इसलिये मायावर्णन-प्रसंगमें उसके दो भेद तथा अविद्याकी क्लेशरूपता—

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥

—आदिका वर्णन करते हैं। कभी तो एक दृष्टि दौड़ानेपर उनके सारे काव्यमें **'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं'** जासु सत्यता ते जड माया। ब्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचंड।

सिव बिरंचि कहँ मोहै को है बपुरा आन।
ग्यानी भगतसिरोमनि, त्रिभुवनपतिकर जान।
ताहि मोह माया प्रबल पामर करहिं गुमान॥[3]

तथा नारदजी, काकभुशुण्डि आदिकी कथाओंसे—'माया' का ही जाल बिछाया तथा उससे केवल सावधान रहनेका ही संकेत दीखता है। उनके 'विनय' आदि अन्य काव्योंमें तथा पुराणोंमें भी सर्वत्र यही है। अद्वैत-सम्प्रदायका दूसरा नाम ही 'मायावाद-मत' है।

'तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी।'

इस मायासे अलग होकर भगवान्के सामने हुए बिना क्लेशका अन्त नहीं है।

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।
यन्मोहितं जगत्सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४४)

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ६ । ३९)

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । (गीता १५ । १५)

—आदि पदोंसे यह माया भी भगवदिच्छाका ही परिणाम है—'नचै जासु अनुसासन माया।' और वे जब चाहें इसकी प्रबलताका निवारण कर सकते हैं—'निज माया प्रभुता तब रोकी।'

ऐसी दशामें भगवच्चरणोंमें ही रोना है—'प्रभो! अब बहुत हुआ। सर्वत्र क्लेशकी सीमा ही है। अवश्य ही यह हमारा कथन दम्भपूर्ण दीखता है, अन्यथा आप-सा कृपालु—दयाकी सीमा इतनी देर क्योंकर लगाते? पर दयालो! इस दम्भकी दवा भी आप ही करें—आप ही सच्ची प्रार्थना करा दें, मैं तो अब क्लेश तथा व्याकुलता आदिके कारण कुछ ऐसी शक्तिहीनता भी देखता हूँ कि प्रार्थनाकी भी उचित शक्ति नहीं रही। फिर भी, आपकी कृपाकी आशा बनी है। यह सत्य है कि मेरे दोषोंका अन्त नहीं है—'निखिलदोषकराशि' ही ठहरा। पर क्या आपकी कृपा पराजित हो जायगी मेरे दोषोंके समुदायसे? यदि नहीं तो, नाथ! फिर अब विलम्ब क्यों?

---

१. ये 'गाधि' विश्वामित्र-पिता क्षत्रिय गाधिसे सर्वथा भिन्न हैं।

२. लवणराजको भी प्रायः इतना ही समय चाण्डाल-विग्रहमें दीखा। किंतु सभामें दो घड़ीका भी समय न लगा था।

३. यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा॥ सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

पागलकी झोली

[विश्वजननी रमणी]

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

पागल अपने मनसे नृत्य कर रहे हैं—'राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' नाच रुक नहीं रहा है। उसी समय कुछ महिलाओंने आकर प्रणाम किया।

पागल—(उत्तरमें नमस्कार करते हुए) 'राम राम' माई लोग अच्छी तरहसे तो हैं ?

पहली माँ—हाँ बाबा, आपके आशीर्वादसे सब ठीक है।

पागल—'राम-राम सीताराम' तुमलोग पतिका ध्यान तो करती हो न ? राम राम।

दूसरी माँ—हाँ बाबा, रोज करती हूँ, खूब आनन्द मिलता है

पागल—(दूसरी स्त्रियोंसे) तुम सब लोग भी करती हो न ?

सब—हाँ बाबा, हम सब तीनों कालमें पतिका ध्यान और स्तुति करती हैं।

पागल—राम-राम राम-राम। यह नयी माई कौन है ? राम-राम।

पहली माँ—हमारे ही गाँवकी हैं; खूब पढ़ी-लिखी हैं, एम्० ए० पास हैं। कई पुस्तकें लिख चुकी हैं।

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम। अच्छा, अच्छा।

दूसरी माँ—बाबा, यह आपके मुखसे पति-सेवाकी बात सुनकर आपसे कुछ कहना चाहती हैं।

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' अरी माँ ! अपने इस छोटे बच्चेको क्या कहोगी, सीताराम ?

तीसरी माँ—बाबा, इनके मुखसे आपका उपदेश सुनकर मैंने समझा है कि आप प्राचीन रीति-नीतिके अनुसार ही सबको चलनेके लिये कहते हैं, सबको वैसा ही बनाना चाहते हैं। परंतु बाबा, जगत्में सभी कुछ परिवर्तनशील है, तो क्या स्त्रियोंको सदा उसी प्रकार घूँघट निकालकर अन्तःपुरमें ही रहना पड़ेगा ? प्राचीन रीति-नीतिके अनुसार चलना पड़ेगा ? क्या यह सम्भव है ? जब सबका परिवर्तन है, तब स्त्रियोंके नियममें क्यों नहीं परिवर्तन होगा ?

पागल—'राम-राम राम-राम सीताराम।' तुम क्या परिवर्तन चाहती हो बेटी ? 'राम-राम।'

तीसरी—स्त्रियाँ पढ़ना-लिखना सीखकर नौकरी-चाकरी करेंगी, अकर्मण्य पति या दरिद्र आत्मीय-स्वजनोंका प्रतिपालन करेंगी। हजारों-हजारों लड़कियाँ लिखना-पढ़ना सीखती हैं, इनका क्या विश्वके दरबारमें कोई भी स्थान नहीं है ? क्या ये सदा घूँघट काढ़े घरके कोनेमें ही बैठी रहेंगी और पति-सेवा ही करती जायँगी ?

पागल—'राम-राम सीताराम।' माँ, यह जो लड़कियोंका लिखना-पढ़ना सीखना, नौकरी करना है—यह तो उन पाश्चात्त्य देशोंका अनुकरण है, जहाँ स्त्री-पुरुष मनमाने ढंगसे चल सकते हैं। 'राम-राम सीताराम।' सतीधर्म या चरित्रकी वस्तु जहाँ कुछ भी नहीं है। जहाँ ऐहिक भोगके सिवा 'राम-राम सीताराम' अन्य कुछ भी है—यह बात साधारण लोग नहीं जानते। 'राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम।' उस जातिका जो अनुकरण करती हैं, धर्महीन चरित्रवाली मर्यादा-शून्य जातिकी लड़कियोंके समान वे भी जल-भुनकर मर जायँगी। 'सीताराम राम-राम सीताराम सीताराम।'

तीसरी—सबका परिवर्तन तो है न ?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' सबका परिवर्तन कहाँ है माँ ? 'राम-राम'। सूर्य सदा ही सूर्य है, जल और अग्नि सदा ही जल-अग्नि हैं। स्त्रियाँ सदा ही गर्भ धारण करती हैं। भारतका सतीधर्म सदासे एक ही प्रकारका है। हमारे किसी इतिहास या शास्त्रमें नहीं पाया जाता कि माताएँ पढ़ना-लिखना सीखकर 'राम-राम सीताराम' क्लर्क, जज, मजिस्ट्रेट, वकील, बैरिस्टर बनी हों। राम-राम—ऐसी शिक्षा तो धर्महीन जातिकी शिक्षा होती है, जिनकी केवल बहिर्मुख गति होती है। 'राम-राम सीताराम' हमारी शिक्षा-दीक्षा तो क्या पुरुष, क्या स्त्री सबको अन्तर्मुख करनेके लिये होती है। भारतके ऋषि जानते थे कि मनुष्य आता है 'ईश्वर-दर्शन' करनेके लिये। इसलिये जिससे मनुष्य 'राम-राम सीताराम' अभ्युदय और निःश्रेयसके पथमें अर्थात्

जागतिक उन्नति करते हुए परम काम्य श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर सके। 'राम-राम सीताराम' इसके लिये सारे शास्त्र स्त्री-पुरुष सबको बाल्यकालसे मरणपर्यन्त किस प्रकार चलना चाहिये 'राम राम' उसका नियम बाँध गये हैं। जो लोग उस पथका अनुसरण करेंगे वे सबल और स्वस्थ-शरीर रहकर दीर्घजीवन प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे तथा मनकी अन्तर्मुखतासे आत्मानन्द प्राप्त करेंगे। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम। भारतकी नर-नारीका लक्ष्य ऐहिक सुख नहीं है। 'राम राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' उनका लक्ष्य है परम सुख परम गति श्रीभगवान्‌को प्राप्त करना।

तीसरी—इसलिये आप कहना चाहते हैं कि स्त्रियाँ सदा घूँघट काढ़कर पुरुषसे दूर रहें और पति-सेवा ही करती जायँ?

पागल—'राम-राम सीताराम'—हाँ माई, शास्त्र यही कहते हैं। जो माई लोग ऐसा कर सकेंगी, आनन्दसे रहेंगी, इहलोक-परलोकको जय करनेमें समर्थ होंगी। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—पुरुष भी मनुष्य है और स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं। यदि मनुष्यसे मनुष्य बातचीत करे तो इसमें क्या हानि है? यह मैं नहीं समझती बाबा!

पागल—'राम-राम सीताराम।' माई! अग्नि भी पार्थिव पदार्थ है और घी भी पार्थिव पदार्थ है, किंतु 'राम-राम सीताराम' अग्नि और घीको पास-पास रखनेसे जैसे घी गल जाता है उसी प्रकार स्त्री पुरुषके निकटस्थ होनेपर गल जाती हैं। राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।

शास्त्र कहते हैं—

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

'राम-राम सीताराम' नारी घृतके कुम्भके समान है और पुरुष तप्त अङ्गारके तुल्य है। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति दोनोंको एकत्र न रक्खे। राम-राम सीताराम।

अन्यत्र लिखा है—

अङ्गारसदृशी नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
तस्मान्नारीषु संसर्गः दूरतः परिवर्जयेत्॥
यथैव वह्निसांनिध्यादाज्यं द्रवति निश्चयः।
तथा युवतिसांनिध्यात् पुंसश्चेतश्चलत्यहो॥

—प्रपन्नामृत

'राम-राम सीताराम' नारी जलते अङ्गारके तुल्य है, पुरुष घृतकुम्भके समान है; इसलिये नारीका सङ्ग दूरसे ही परित्याग करे। जैसे अग्निके पास घृत निश्चय ही गल जाता है, उसी प्रकार युवतीके सम्पर्कमें पुरुषका चित्त चञ्चल हो जाता है। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

तीसरी—यह बात ठीक समझमें नहीं आयी बाबा! बहुत-सी लड़कियाँ आजकल पुरुषोंके साथ एकत्र पढ़ती-लिखती हैं। उनके भीतर अपवित्र भाव नहीं देखा जाता। वे भाई-बहिनके समान आनन्दसे रहते हैं।

पागल—'राम-राम सीताराम, जय-जय राम सीताराम।' माँ! स्त्री-पुरुषके प्रथम मिलनमें कोई अपवित्र भाव नहीं रहता। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' परंतु क्रमशः जब घनिष्ठता बढ़ती है 'राम-राम सीताराम' तब एकान्तमें बात करनेकी इच्छा होती है, अङ्ग-स्पर्शकी वासना जाग उठती है। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' तत्पश्चात् कुछ दिनोंके बाद जब नशा उतरता है तब आँसू बहानेके सिवा कुछ शेष नहीं रह जाता। 'राम-राम सीताराम।'

पहली—बाबा, आपको यह सब कैसे ज्ञात हुआ?

पागल—'राम-राम सीताराम।' माँ! कुमारी, सधवा, विधवा, कुमार, गृहस्थ, साधु—ये अपकर्म करके जब संतप्त होते हैं, तब संताप दूर करनेके लिये 'राम-राम सीताराम' यहाँ आकर अपने पतनकी कहानी सुनाते हैं और रोते हैं। 'राम-राम सीताराम।' उनसे मैं कहता हूँ केवल भगवान्‌का नाम लो। माताएँ पुरुषोंसे दूर रहें। लड़के लड़कियोंके साथ न रहें। 'राम-राम सीताराम।'

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

—श्रीमद्भागवत

माता, बहिन, कन्या—कोई भी क्यों न हो, एकान्तमें एकत्र न रहे। बलवान् इन्द्रियाँ विद्वानोंको भी आकर्षित करती हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

दूसरी—अपने ही अन्याय करते हैं और अपने ही मुँहसे कह देते हैं?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' पहले-पहले नहीं कहते हैं, पाप छिपानेकी चेष्टा करते हैं। तत्पश्चात् जब संतापकी व्यथासे व्यथित होते हैं; 'राम-राम सीताराम' तब संतापकी निवृत्तिके लिये अपने पापकी

सारी बातें खोलकर कह देते हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

पहली—क्या शिक्षितोंमें भी ऐसी बात होती है?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' आगकी आँच जैसे मूर्खको लगती है, वैसे ही शिक्षितको भी लगती है माँ! 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' अधिक क्या कहें? पास बैठना तो दूर रहे, केवल दृष्टिसे दृष्टि मिलनेका क्या परिणाम होता है 'सीताराम-सीताराम राम-राम' वाराहपुराणमें लिखा है—

> अग्निकुण्डसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
> इति प्रवादो मूर्खाणां विचारान्महदन्तरम्॥
> घृतकुम्भोऽग्नियोगेन द्रवते न तु दर्शनात्।
> पुमान् स्त्रीदर्शनादेव द्रवते यद्विमोहितः॥
> (१८६।३२)

नारी अग्निकुण्डके समान और पुरुष घृतकुम्भके समान है, यह मूर्खोंका प्रवाद है। विचार करनेपर बड़ा अन्तर दिखायी पड़ता है। घृतकुम्भ तो अग्निके संयोगसे गलता है, अग्नि-दर्शनसे नहीं, परंतु पुरुष स्त्रीके दर्शनमात्रसे विमोहित होकर गल जाता है, पास जानेकी अपेक्षा नहीं रहती। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

तीसरी—कालेजमें लड़कियाँ और लड़के एक साथ भाई-बहिनके समान पढ़ते-लिखते हैं, परस्पर बातचीत करते हैं। इसमें क्या दोष है? ठीक समझमें नहीं आता।

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' भाई-बहिन कहती हो माँ! सीताराम सीताराम! उस दिन एक शिक्षिता कुमारी 'राम-राम सीताराम' भाईके द्वारा कौमार्य-खण्डनकी बात कहकर रोने लगी। एक दूसरे दिन एक भाईने भगिनी-गमनके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था माँगी थी। परंतु सभीमें सर्वत्र दोष होते हैं, यह बात मैं नहीं कहता। 'राम-राम सीताराम।' तथापि घनिष्ठतासे दोनोंहीके चित्त-चाञ्चल्यकी अधिक सम्भावना है। स्त्री-पुरुषके समीप होनेपर ही परस्पर परमाणु संक्रमित होते हैं। दोनोंको परमाणु ही आकर्षित करके अधःपतित करते हैं। 'राम-राम सीताराम' एक घटना सुनाता हूँ—

एक शिक्षिता बड़ी भली लड़की एक साधुकी अहैतुकी भक्ति करती थी। उसकी धारणा थी 'राम राम सीताराम' कि साधुकी कृपासे वह पास होनेमें समर्थ हो रही है। युवकोंके साथ वह भाईके समान व्यवहार करती थी। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' तत्पश्चात् लड़कीने एक बार साधुसे कहा कि 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' मेरे मित्रको आप आशीर्वाद दें, इन्हींके ऊपर मेरा भविष्य निर्भर करता है। 'राम-राम सीताराम।' यह देखो माँ! वैसी भली लड़कीके मनमें भी व्यक्तिविशेषके ऊपर आकर्षण हो गया। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' कुछ दिनोंके बाद साधुने उस लड़कीसे कहा—'देख माँ! ब्याह अपने पसंदसे मत करना, 'राम-राम सीताराम' और यह भार माता-पिताके ऊपर दे दो और पुरुषसे दूर रहो। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

तीसरी—यह जो लड़कियोंकी शिक्षाका स्रोत चल रहा है, क्या इसको आप रोक सकेंगे?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' बिल्कुल ही नहीं; परंतु लड़के-लड़कियोंके माता-पिताओंसे यह बात अवश्य कहूँगा कि वे अपने लड़के-लड़कियोंको पढ़ना-लिखना सिखानेके साथ-साथ धर्मकी शिक्षा भी दें। 'राम-राम-राम' उनसे दोनों समय जप करावें, माता-पिता-गुरुजनको प्रणाम करना सिखावें, 'राम-राम सीताराम।' प्याज, लहसुन, बत्तक, मुर्गी, मांस, अण्डा न खिलावें; उपन्यास, नाटक, सिनेमा तथा पुरुषोंसे स्त्रियोंको दूर रक्खें। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' यदि ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हें रोना पड़ेगा। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—अच्छा बाबा! आप लोगोंके मुखसे सुनती हूँ कि एक ही भगवान्को मनुष्य सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ, द्वापरमें पूजा और कलियुगमें नामकीर्तनके द्वारा प्राप्त करता है। भगवान्को प्राप्त करनेके मार्गमें भी परिवर्तन होता है, परंतु स्त्रियोंके ही फूटे नसीबमें सदा चौका-चूल्हा ही बना रहेगा?

पागल—'सीताराम'—माँ! मार्गमें परिवर्तन होता है, परंतु भगवान्में परिवर्तन नहीं होता। 'राम-राम'—माताएँ देवसेवा, अतिथिसेवा, पतिसेवा, पूजा-जप-ध्यान आदिके द्वारा भगवान्को पानेके लिये चित्तको अन्तर्मुख कर सकती हैं; किंतु 'राम-राम सीताराम' पढ़-लिखकर पुरुषोचित नौकरी करनेपर वह अवसर भी नहीं मिलेगा। 'राम राम सीताराम।' 'अर्द्धं ह वै जाया'—श्रुति कहती है कि पुरुषका अर्द्धांश जाया है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि कोमलहृदया जायाको सारी गृहस्थीका भार देकर पुरुष! तुम, 'राम-राम

सीताराम' धनोपार्जन करके उसके हाथोंमें दो। वही सारी व्यवस्था करेगी। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

दूसरी—शास्त्र हमारे लिये क्या कहते हैं ?

पागल—'जय-जय राम सीताराम'—स्त्रीजाति महाभागा है, वह सम्मानकी पात्र है, वे ही घरकी शोभा हैं। प्रजा-सृष्टिके लिये ही उनकी उत्पत्ति है। लक्ष्मीमें और रमणीमें कोई अन्तर नहीं। स्त्रीजाति बाल्यमें पिताके, यौवनमें भर्त्ताके और बुढ़ापेमें पुत्रके अधीन रहे। पतिके समान व्रतधारण करे, घरकी चीजोंको सँभालकर शुद्ध साफ रक्खे—इत्यादि स्त्रियोंके कार्य हैं। सास-ससुर तथा अन्यान्य गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा स्त्रियोंके कर्तव्य हैं। देवपूजा, अतिथि-पूजा आदि सब प्रकारके धर्मकार्य पतिकी सहायतासे पत्नी करे। औषध-प्रयोग आदिके द्वारा पतिको वशमें करनेकी चेष्टा करना पत्नीका कर्तव्य नहीं है, 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

पहली—और हमको क्या-क्या नहीं करना चाहिये, बाबा ?

पागल—'राम-राम सीताराम' परगृह-भ्रमण आदि स्त्रीके कर्त्तव्य नहीं हैं। पतिके परदेशमें रहनेपर स्त्रियोंको वेष-भूषा सजाना कर्तव्य नहीं है। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—इससे क्या हानि होती है ?

पागल—'राम-राम सीताराम' स्त्रियोंको पतिकी प्रीतिके लिये वेषभूषा करनी चाहिये। उनके न रहनेपर वेश-भूषाको कौन देखेगा, कौन आनन्द लेगा ? 'राम-राम सीताराम।' पर-पुरुषको आनन्द देनेके लिये तो सती नारी वेश-भूषा सजाती नहीं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

पहली—और क्या बाबा ?

पागल—'राम-राम सीताराम।' पतिके मरनेपर पत्नीके लिये ब्रह्मचर्य-पालन या सहमरणका विधान है। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—यह एक बीभत्स व्यापार है, उस समयके लोग जलती चितामें जीते-जी नारीको जलाकर मार डालते थे !

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' वैसी बात नहीं है माँ ! कोई माताओंको जलाकर नहीं मारता था। वे ही स्वेच्छासे मृत पतिके साथ जलती चितामें देह विसर्जन करती थीं। वे समझती थीं कि पति आत्मा है, स्त्री देह है। आत्माके चले जानेके बाद शून्य देहसे क्या प्रयोजन ?

तीसरी—कैसी निष्ठुरता थी, अब तो कानूनके द्वारा उसे बंद कर दिया गया है !

पागल—'राम-राम सीताराम !' पूर्ण बंद नहीं हुआ माँ ! उस दिन राजस्थानमें एक नारीने जलती चितामें अपना शरीर पतिके साथ होम दिया था। पतिकी मृत्युके साथ-साथ रेलसे कटने तथा शरीरमें किरासन तेल लगाकर जल मरनेकी बात भी सुनी जाती है। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

तीसरी—कैसी कुप्रथा थी ?

पागल—'राम-राम सीताराम।' कुप्रथा कह रही हो माँ ? ब्रह्मज्ञानी, कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ क्या कहते हैं सुनो—

'बंगालकी प्राण-विसर्जन-परायणा पितामहीको हम प्रणाम करते हैं। उन्होंने जिस जातिको स्तन पान कराया है, स्वर्गमें जाकर उसे न भूलेंगी। हे आर्ये ! तुम अपनी संतानको संसारके चरम भयसे उत्तीर्ण कर दो। तुम स्वप्नमें भी कभी भी यह नहीं जानती हो कि तुम अपने आत्मविस्मृत वीरत्वके द्वारा पृथिवीके वीर पुरुषोंको लज्जित कर रही हो ! तुम जिस प्रकार दिनके अवसानमें गृहस्थीके कार्योंको समाप्तकर चुप-चाप पतिके पलंगपर आरोहण करती रहीं; दाम्पत्य-लीलाके अवसानके दिन संसारके कार्यक्षेत्रसे विदा लेकर तुमने उसी प्रकार सहज वधूवेशमें माँगमें मङ्गल सिन्दूर धारण करके पतिकी चितापर आरोहण किया है। तुमने चिताको विवाह-शय्याके समान आनन्दमय, कल्याणमय बना दिया है। बङ्गदेशकी अग्नि तुम्हारी पवित्र जीवनाहुतिके द्वारा पवित्र हो गयी। आजसे यह बात हम याद रक्खेंगे कि हमारा यह इतिहास नीरव है, परंतु अग्नि हमारे घर-घर तुम्हारी वाणीका वहन कर रही है। तुम्हारे अक्षय अमर स्मरण-निलयके रूपमें उस अग्निको तुम्हारे उस अन्तिम विवाहकी ज्योति, शुचिमय अखण्ड पट वस्त्रको हम प्रतिदिन प्रणाम करेंगे। वह अग्निशिखा तुम्हारी उठी हुई भुजाके रूपमें हम सबको आशीर्वाद दे। मृत्यु कैसी सहज है, कितनी उज्ज्वल है, कितनी उन्नत है, हे चिर नीरव स्वर्गवासिनि ! अग्नि तुमसे लेकर इसी वार्ताको हमारे गृहप्राङ्गणमें वहन करके हमारे लिये अभय घोषणा करे।'—(रवीन्द्ररचनावली, विविधप्रबन्ध ५ खण्ड) 'राम-राम सीताराम जयजय राम सीताराम, सीताराम सीताराम'—सुना माई ? 'राम-राम।'

द्वितीया—सुनकर बहुत आनन्द मिला।

तृतीया—सहमरण-प्रथा तो आधुनिक है ?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' नहीं माँ, आधुनिक नहीं है । जगरुजननी सीता पूर्वजन्ममें कुशध्वज मुनिकी वेदवती नामक कन्या थी । मुनिकी इच्छा थी कि कन्या विष्णुभगवान्‌को प्रदान करें । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' शम्भु नामक एक दैत्यने उस कन्याके लिये मुनिकी हत्या कर दी । वेदवतीकी माता सहमृता हो गयीं । 'राम-राम सीताराम' वाल्मीकि-रामायणमें यह घटना वर्णित है । 'राम-राम सीताराम ।'

तीसरी—कौशल्या आदि किसीके सहमृता होनेकी बात नहीं सुनी जाती ।

पागल—'राम-राम सीतराम सीताराम ।' रामका दर्शन करनेके उद्देश्यसे वे सहमृता नहीं हुईं । 'राम-राम सीताराम सीताराम ।'

तीसरी—महाभारतमें कुन्तीदेवी भी सहमृता नहीं हुईं ?

पागल—'राम-राम सीताराम सीताराम ।' सत्यवती और कुन्ती अपने बालकोंकी रक्षा करनेके हेतु सहमृता नहीं हुईं । नहीं तो, क्या कुरुवंश और क्या यदुवंश—दोनोंकी प्रधान-प्रधान रमणीगण सहमृता हुई थीं । 'राम-राम सीताराम ।' इन्दासमें सतीके सहमरणके स्थानमें आज भी लोग धरना देते हैं, जिससे कठिन रोग भी दूर हो जाता है । गलसी थानाके पनसुरा गाँवमें सती आनन्दमयीके सहमरणके स्थानमें मन्दिर है । प्रान्त-प्रान्तमें सती-चौरे हैं, राजस्थान झूँझनू आदि-में सती रानीके प्रसिद्ध स्थान हैं । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।'

दूसरी—क्या शास्त्रमें हमारे लिये और भी कर्तव्य हैं ?

पागल—'राम-राम सीताराम ।' पतिके मरनेपर पत्नीके ब्रह्मचर्य या सहमरणका विधान है । पति दुःशील, दुराचारी, निर्धन जो कुछ भी हो, पत्नी उसको देवता समझे । जीवनमें-मरणमें पतिके लिये अप्रिय कोई कार्य पत्नीको नहीं करना चाहिये । 'राम-राम सीताराम ।' पतिकी मृत्यु होनेपर पत्नी ब्रह्मचर्य रक्खे, अत्यन्त क्लेशमें पड़नेपर भी किसी दूसरे पुरुषका नाम न ले । 'राम-राम सीताराम ।'

तीसरी—अच्छा बाबा, उस युगकी स्त्रियाँ भी वेद पढ़ती थीं, ब्रह्मवादिनी थीं—ऐसा सुना जाता है ।

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' नारियोंके दो भेद हैं—पहली 'ब्रह्मवादिनी' दूसरी 'सद्योद्वाहा ।' इनमें ब्रह्मवादिनीके लिये अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और अपने घरमें भिक्षाग्रहणका विधान था । 'राम-राम सीताराम, जय-जय राम सीताराम ।' इससे जान पड़ता है कि सर्वसाधारण स्त्रीजनका इसमें अधिकार नहीं था । 'राम-राम सीताराम ।' पहले स्त्रियोंको यह अधिकार था, फिर कलियुगमें उनके लिये वेदाध्ययन आदि निषिद्ध हो गया । 'राम-राम सीताराम ।' यमस्मृतिमें लिखा है कि पूर्वकालमें कुमारियोंके उपनयन, वेदारम्भ और गायत्रीका उपदेश होता था । उनके गुरु पिता, चाचा या ज्येष्ठ भ्राता होते थे । उनको पढ़ानेका अधिकारी दूसरा कोई नहीं होता था । 'राम-राम सीताराम ।'

तीसरी—तब तो कलियुगके शास्त्रके मतसे कुएँका मेंढक सदा कुएँमें ही पड़ा रहेगा ?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' भूल न करो माँ ! नारी कुएँका मेंढक नहीं है, नारी है जगद्धात्री, जगन्माता, गृहलक्ष्मी । भारतमें नारीका स्थान सर्वोपरि है, भारतकी नारियाँ स्वयं लक्ष्मी हैं । 'राम-राम सीताराम ।'

'स्त्री नाम लक्ष्मीमैत्रेय नानयोर्विद्यते परम् ।'

'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥'

शास्त्र इसी प्रकार जगन्मातारूपिणी नारीको पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं । 'राम-राम सीताराम सीताराम ।' एक बहुजनमान्या प्राचीना विदुषीका कथन है—

'हे नारी ! भक्ति-पुष्पाञ्जलि सिरपर धारण करो । नरके साथ एकासनपर मत बैठो । तुम जीवकी जननी, जगद्धात्री, जगन्माता हो, विधाताने सबके ऊपर तुम्हारा आसन बिछा दिया है ।' 'राम-राम सीताराम ।'

केवल इतना ही लक्ष्यमें रक्खो माँ, कि भारतकी क्या स्त्री, क्या पुरुष—सबका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है । 'राम-राम सीताराम ।' इसलिये शास्त्र वही व्यवस्था करते हैं जिसके अनुसार चलनेसे वे ईश्वर-दर्शन करनेमें समर्थ हों । 'राम-राम सीताराम ।' अन्य जातिमें तो यह नहीं है माँ ! उनमें एनीबेसेंट, सिस्टर निवेदिता आदि माताओंने भारत-नारीके ब्रह्मचर्य-व्रतका अनुवर्तन कर अपनेको धन्य-धन्य कर दिया है । वे भारत-नारीकी प्रशंसा शत-शत मुखसे करती हैं । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।'

तीसरी—हमारे शास्त्रोंमें जो कुछ है सब अन्तर्मुख होनेके लिये है । अन्तर्मुख होनेपर नर-नारी ईश्वर-दर्शन करके शान्ति प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं—आप यही कहते हैं न ?

पागल—'राम-राम सीताराम।' हाँ, माँ! भारतके नर-नारीका एकमात्र लक्ष्य है ईश्वर-दर्शन। इसी लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर आज सब स्त्री-पुरुष हाहाकार कर रहे हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' कुछ एम्० ए० पास अध्यापिका माताएँ मुझसे बड़ा स्नेह रखती हैं, वे बीच-बीचमें आती हैं। एम्० ए० पास हैं, नौकरी करती हैं; इससे उनको, 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' शान्ति मिलना तो दूर रहा, संताप ही बढ़ता जा रहा है, ऐसा वे कहती हैं, 'राम-राम सीताराम।'

पहली—जिन स्त्रियोंने लिखना-पढ़ना सीखा है, वे क्या करें?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' जो शान्ति चाहती हैं, उनके लिये यदि नौकरी किये बिना काम चले तो वैसी ही चेष्टा करना उचित है। यदि नौकरी करनी ही पड़े तो जिसमें पुरुषका सहयोग न हो, ऐसी नौकरी करनी चाहिये। पुरुषसे दूर रहना चाहिये। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम।' विवाहिता सधवा शिक्षिता स्त्रियाँ घरमें देवीरूपसे रहकर पति-सेवा, गुरुजन-सेवा, देव-सेवा, अतिथि-सेवा 'राम-राम सीताराम'—सात्त्विक आहार, सद्ग्रन्थ-पाठ और यथासमय उपासना, ब्रह्मचर्य इत्यादिके आचरणके द्वारा भगवद्दर्शनके लिये प्राणपनसे लग जायँ। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—फिर पूछती हूँ बाबा! तब तो भारतके नर-नारीका काम्य है ईश्वर-दर्शन?

पागल—'जय-जय राम सीताराम सीताराम सीताराम।' हाँ, माँ! ईश्वर-दर्शन ही भारतवासीका चरम और परम लक्ष्य है। आज जो लाखों-लाखों नर-नारी दुर्निवार्य यन्त्रणा भोग रहे हैं 'राम-राम सीताराम' इसका कारण यही है कि वे लक्ष्यभ्रष्ट हो गये हैं। यथेच्छ आहार-विहार, स्त्री-पुरुषका अबाध मिलना-जुलना, असंयम, पाश्चात्त्य देशके विलास-व्यसनका अनुकरण ही, 'राम-राम सीताराम सीताराम'—इनके लिये रोग, दारिद्र्य आदि ला देता है। मनमाना भोग ही रोगरूपमें परिणत होकर दुःसह संताप उत्पन्न करता है। 'राम-राम' अब खोज करनेपर प्रतिशत दस आदमी भी स्वस्थ और सबल मिलेंगे या नहीं—इसमें संदेह है। उच्छृङ्खल यथेच्छ भोगके फलस्वरूप ही हजारों-हजारों अस्पतालोंकी सृष्टि हुई है। 'राम-राम सीताराम।'

दूसरी—(तीसरीके प्रति) बोलो, तुमको और कुछ कहना हो तो कहो।

तीसरी—चुप।

पागल—'राम-राम सीताराम।' अच्छा तुम्हीं सत्य-सत्य बताओ माँ, 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' एम्० ए० पास तथा और क्या-क्या पास करके क्या तुमने शान्ति प्राप्त की है? 'राम-राम सीताराम।' आशा करता हूँ, तुम सच-सच बतलाओगी 'राम-राम'।

तीसरी—नहीं बाबा, शान्ति तो नहीं मिली, दिनोंदिन संताप ही बढ़ता जा रहा है। लोगोंसे स्त्री-शिक्षाके विषयमें तर्क करती हूँ, व्याख्यान देती हूँ, परंतु हृदय अशान्तिसे जला-भुना रहता है, मनमें आता है हाय! मैंने लिखना-पढ़ना क्यों सीखा। अशिक्षित ग्राम्यवधू होती तो शायद स्वामीको सुखी बना सकती, परिवारमें शान्ति स्थापित होती।

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम'। माँ! भगवान्‌का आश्रय लिये बिना शान्ति प्राप्त हो नहीं सकती। 'राम-राम-राम सीताराम सीताराम सीताराम।' बाहरकी दौड़-धूप छोड़ो, पतिकी सेवा करो और सदा राम-राम जपो। शान्ति दौड़ी आयेगी और तुम्हारी चिरसङ्गिनी हो जायगी। 'राम-राम सीताराम' माँ हमारी कितने रूपोंमें क्रीड़ा कर रही हैं, इसको समझना कठिन है। मैं कई ऐसी शिक्षिता माताओंको जानता हूँ, वे बाल-विधवा हैं। जो पतिभक्ति, भगवद्भक्ति और गुरुमें अचला भक्ति, सरल व्यवहार 'राम-राम सीताराम सीताराम' सबमें श्रद्धायुक्त होकर आनन्दसे कालयापन कर रही हैं। 'राम-राम सीताराम सीताराम।' जो काय-मन-वचन-से श्रीभगवान्‌का आश्रय लेता है वह असत् होकर भी सत् हो जाता है। 'राम-राम सीताराम।' मनुष्यका कर्तव्य है एकान्त भावसे भगवान्‌के शरण हो जाना। 'राम-राम सीताराम।' भारतका वर्णाश्रम-धर्म, शिक्षा-दीक्षा, स्त्री-पुरुषके कर्तव्याकर्तव्य सबकी शास्त्रोंने इस प्रकारसे व्यवस्था की है कि उसके द्वारा गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही नर-नारी भगवत्-पथमें सुखसे अग्रसर हो सकते हैं। 'राम-राम सीताराम' दूसरी भोगपरायण जाति भोगको ही जानती है, भगवान्‌को नहीं जानती। 'राम-राम सीताराम, सीताराम सीताराम।' और एक बात है—भारत-नारीकी पतिसेवा भगवत्प्राप्तिका एक अन्य-निरपेक्ष परम उपाय है। और कोई देवपूजा, धर्म-कर्म न करके भारत-नारी यदि केवल पति-परमेश्वरकी सेवा करे तो वह भगवत्प्राप्तिके समर्थ हो जायगी। नारीका कर्तव्य है पुरुषसे दूर रहना। कोई महापुरुष हों, गुरु हों, परमहंस हों, गुरुपुत्र हों, साधु हों, अन्य कोई भी पुरुष क्यों न हों, पुरुष पुरुष है—ऐसा मनमें

रखकर उनके साथ व्यवहार करे। 'राम-राम सीताराम सीताराम।' पिता पतिको कन्यादान करता है। नारीका देह पतिका है। पतिके सिवा अन्य किसीका उस देहको स्पर्श करनेका अधिकार नहीं है। 'राम-राम सीताराम।' नारीका अपने देहपर कोई अधिकार नहीं होता, उसका देह उसके पतिकी सम्पत्ति है। अतएव उसको पतिके सिवा कोई स्पर्श न करे-करावे। 'राम-राम सीताराम।'

पहली—छूनेसे क्या होता है बाबा ?

पागल—'राम-राम सीताराम।' आगमें हाथ देनेपर जैसे हाथ जल जाता है, उसी प्रकार पर-पुरुषके स्पर्शसे चित्त विक्षुब्ध होता है। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' साधुओंके सम्बन्धमें श्रीभगवान्‌ने उद्धवसे कहा था 'राम-राम सीताराम' कि 'भिक्षु पैरके द्वारा काष्ठकी युवतीको भी स्पर्श न करे। 'राम-राम सीताराम' स्पर्श करते ही हथिनीके अङ्कके साथ मोहित हाथीके समान बद्ध हो जायगा। 'राम-राम सीताराम।' स्पर्शमें एक प्रबल आकर्षण है। एक बार किसी प्रकार यदि कोई नारी-देह स्पर्श करता है 'राम राम सीताराम' तो वह ऐसा आकर्षित हो जाता है कि फिर आत्मरक्षा नहीं कर पाता। 'राम-राम सीताराम।' 'माताएँ भी किसी भी बहाने पर-पुरुषका स्पर्श करनेपर महान् आकर्षणसे अधःपतित हो जायँगी। 'राम-राम सीताराम।' अतएव सभी नर तथा नारीको स्पर्शके सम्बन्धमें खूब सावधान रहना चाहिये। 'राम-राम सीताराम।' माँ, घरके मालिक तो भगवान् हैं, हम सब उनकी दासी हैं—यह मनमें रखकर गृहस्थ चलावे। पति-परमेश्वरकी सर्वतोभावसे सेवा करो, उनको संतुष्ट रक्खो। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' और जिह्वासे सर्वदा राम रटन करो।

ऊठत बैठत सदा जपो हरिनाम।
छिन जनि रसनाको देहु विश्राम॥

माँ !

सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा।
पतिव्रतां नमस्कृत्य मुच्यते पातकान्नरः॥

सती देवियोंके पाद-पद्मकी धूलिसे पृथ्वी तुरंत पवित्र हो जाती है। मनुष्य पतिव्रताको प्रणाम करके पातकसे मुक्त हो जाता है। माँ! संसारमें वही माता धन्य है, वही पिता धन्य है और वही भाग्यवान् पति धन्य है, जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री विराजमान है। 'राम-राम सीताराम।' पतिव्रता स्त्रीके पुण्यसे उसके पिता, माता और पति—इन तीनों कुलोंके तीन-तीन पुरुष स्वर्गलोकमें जाकर सुख भोग करते हैं। 'राम-राम सीताराम'।

पतिव्रताके चरण पृथ्वीके जिस-जिस स्थानको स्पर्श करते हैं, वह स्थान तीर्थभूमिके समान माननीय हो जाता है। उस भूमिपर कोई भार नहीं रहता, वह स्थान परम पवित्र हो जाता है। 'राम-राम सीताराम।' अपनेको पवित्र करनेके उद्देश्यसे सूर्यनारायण डरते-डरते अपनी किरणोंसे पतिव्रताको स्पर्श करते हैं। चन्द्रमा और गन्धर्वगण भी पवित्र होनेके उद्देश्यसे पतिव्रताका स्पर्श करते हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' सुन लिया माई लोगोंने ?

पहली—बाबा ! आप और कुछ कहिये।

पागल—'राम-राम सीताराम।' अरे, एक जीभसे मैं सती नारीकी महिमाका क्या वर्णन करूँ ? 'राम-राम सीताराम सीताराम सीताराम।' सती नारी सहस्र पुरखोंका उद्धार करती है। पतिव्रताका पति समस्त पातकसे मुक्त हो जाता है 'राम-राम सीताराम।' सतियोंके व्रतके प्रभावसे उनके पतिको कर्मफल भोगना नहीं पड़ता। वे सारे कर्म-बन्धनोंसे मुक्त होकर पत्नीके साथ विष्णु भगवान्‌के वैकुण्ठमें आनन्द भोगते हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' पृथ्वीपर जितने तीर्थ हैं, वे सब तीर्थ सती-साध्वी स्त्रीके चरणोंमें विद्यमान हैं। सारे देवताओं और मुनियोंके सारे तेज सती नारीमें स्वभावतः अवस्थित होते हैं। 'राम-राम सीताराम।' तपस्वियोंकी सारी तपस्या, व्रती लोगोंके व्रतके सारे फल तथा दाताओंके दानके सम्पूर्ण फल मिलकर पतिव्रता देवियोंमें व्याप्त हुए रहते हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' स्वयं भगवान् नारायण, भगवान् शिव, सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी और सारे देवता तथा महर्षिवृन्द भी पतिव्रता स्त्रीसे सदा भय खाते हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' सतीकी पदधूलिके स्पर्शसे पृथ्वी तत्काल पवित्र हो जाती है, मनुष्य पतिव्रताको नमस्कार करके सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है। 'राम-राम सीताराम सीताराम।' महापुण्यवती पतिव्रता अपने तेजके द्वारा क्षणभरमें त्रिभुवनको भस्म करनेकी शक्ति रखती हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' पतिव्रताके पति और पुत्र दोनों निर्भय रहते हैं। उनको देवता या यमसे तनिक भी भय नहीं होता, 'राम-राम सीताराम सीताराम।' जिन्होंने सैकड़ों जन्मोंमें पुण्य-सञ्चय किया है, उनके गृहमें पतिव्रता कन्या जन्म लेती है। पतिव्रताकी माता परम पवित्र और पिता भी जीवन्मुक्त होता है 'राम-राम सीताराम जय राम सीताराम।' समस्त लोकोंके रचयिता ब्रह्माजीने कहीं स्त्रीके

अतिरिक्त किसी ऐसे रत्नकी सृष्टि नहीं की, 'राम-राम सीताराम'—जिसको देखने, सुनने, स्पर्श करने अथवा स्मरण करनेसे मनुष्यको आनन्द प्राप्त होता है, जिसके लिये धर्म और अर्थसंग्रह होता है। 'राम-राम सीताराम ।' पुत्रविषयक सुख उससे ही प्राप्त होता है। इसलिये मान्यवान् श्रेष्ठ व्यक्तियोंको उचित है कि गृहमें स्थित अबलाओंको गृहलक्ष्मी समझकर निरन्तर समादर प्रदान करें। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' जैसे गङ्गामें अवगाहन करनेपर शरीर पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार पतिव्रताका दर्शन करनेपर समस्त गृह पवित्र हो जाता है। मनुष्य पतिव्रताको प्रणाम करके पातकसे मुक्त हो जाता है, 'राम-राम सीताराम सीताराम सीताराम ।' माँ, माँ, पतिव्रता माताओ ! मैं तुम्हारे चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।'

सब—बाबा ! आप हमारा कोटि-कोटि प्रणाम स्वीकार करें। आज आपकी बात सुनकर हमको बड़ा आनन्द हुआ।

पागल—'राम-राम सीताराम' माँ ! तुमलोग भी अपने इस छोटे बच्चेका प्रणाम स्वीकार करो।

सती-शिरोमणि भारत-रमणी
तव चरणोंमें नमो नमः।
पापहीन होता जो करता
तव चरणोंमें नमो नमः॥

हे माताओ ! तुम वन्दनीया हो, पूजाकी पात्र हो।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

—मनु०

जहाँ नारियाँ पूजित होती हैं, वहाँ देवता आनन्दसे वास करते हैं और जहाँ वह पूजित नहीं होतीं, वहाँके सारे धर्म-कर्म निष्फल हो जाते हैं।

मेरी जीवन-नदीकी धारा भगवच्चरणाम्बुधिकी ओर बह रही है

मेरी जीवन सरिता-धारा बहती तुम समुद्रकी ओर।
नित्य निरन्तर सदा सजग, पर अपनी धुनमें बनी विभोर॥
रखती तनिक न जगत्-जहरको रहती सदा सुधा-भरपूर।
बढ़ती नित्य तुम्हारे सम्मुख करती सब विघ्नोंको चूर॥
इसीलिये इसके दोनों ही तट बन रहे परम मनहर।
लहराती सुख-शान्ति सुधाकी उनपर सदा सुरम्य लहर॥
पाते सभी जीव नित इस जीवनसे शुचि मधुमय आनन्द।
सुखी देख उनको सेवासे बढ़ता मेरा परमानन्द॥
यों सुख देते-पाते मैं जा पहुँचूँगा प्रियतमके पास।
हो निमग्न चरणाम्बुधिमें मैं मिल जाऊँगा बिना प्रयास॥

मधुर

उद्धवजी भगवान् श्यामसुन्दरका प्रेम-संदेश लेकर वृन्दावन पधारे। उनसे भावमयी—रसमयी श्रीगोपाङ्गनाओं-की जो बातचीत हुई, उसके अनेक रूप हैं। वे सभी मधुरतम दिव्यतम पवित्रतम प्रेमसागरकी विभिन्न तरङ्गें हैं जो एक-से-एक बढ़कर उत्तम, एक-से-एक बढ़कर रसोत्पादिनी और रसोन्मादिनी हैं। उनकी एक तरङ्गका यह नगण्य-सा दर्शन है—

महाभागा गोपियोंकी और श्रीराधारानीकी श्याम-वियोगमें दीन-दशा देखकर (क्योंकि अबतक वे उसी रूपमें उद्धवके सामने लीला कर रही थीं) उद्धवजी बड़े दुखी हुए और श्यामसुन्दरकी निन्दा करते हुए श्रीराधा तथा गोपाङ्गनाओंके प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगे। मानो वस्तुतः ही इनका श्यामसुन्दरसे वियोग हो गया है, वे निष्ठुर इन्हें सदाके लिये त्यागकर चले गये हैं। सहानुभूति प्रकट करनेके साथ-साथ वे गोपाङ्गनाओंको ज्ञानयोगका उपदेश भी करने लगे। उद्धवजीको यह पता नहीं था कि श्रीराधारानी तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रियतम श्यामसुन्दर उनको छोड़कर एक पल भी एक पैंड भी अलग नहीं जा सकते। वे तो सदा ही उनके समीप रहकर रसास्वादन करते-कराते रहते हैं। उनका-इनका नित्य संयोग सहज है। उद्धवजीको यही बतानेके लिये श्रीराधा तथा गोपाङ्गनाओंने कहा।

एक बोली—

ऊधौ ! कहा सिखावौ जोग।
हमरो नित्य-योग प्रियतम सौं,
होय न पलक बियोग॥
बे ही हमरे मति-मन इन्द्रिय,
बे ही जीवन-प्रान।
बे ही अंग अंग सब हमरे,
सेवैं बिनु ब्यवधान॥
रहैं सदा हिय माँझ हमारे,
भरे परम अनुराग।
रहि न सकैं बे मोहन हमकूँ,
कबहूँ त्रुटि भर त्याग॥
बे हममें, हम उनमैं निसिदिन,
हम बे सदा अभिन्न।
सूर्य सूर्यकी किरन सदृस हम,
रहैं कदापि न भिन्न॥
नित्य बिहार, नित्य नव लीला,
नित नव सुख-संयोग।
जोग-बिधान करौ तुम उनकूँ,
जिनके स्याम बियोग॥

'उद्धवजी ! तुम हमें क्या योगकी शिक्षा देते हो ? हमारा तो प्रियतमसे नित्य-योग है, (हम नित्य ही उनसे जुड़ी हैं) एक पलके लिये कभी वियोग नहीं होता। वे श्यामसुन्दर ही हमारी बुद्धि हैं, मन हैं, इन्द्रियाँ हैं और वे ही हमारे जीवन हैं—प्राण हैं। हमारे एक-एक अङ्ग वे ही हैं और बिना किसी व्यवधान नित्य सेवन करते हैं। वे परम अनुराग भरकर सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें निवास करते हैं, वे मोहन एक त्रुटिके लिये भी कभी हमारा त्याग करके नहीं रह सकते। वे रात-दिन हममें हैं, हम उनमें हैं। हम और वे सदा ही अभिन्न हैं। सूर्य तथा सूर्यकी किरणोंके सदृश हम कभी पृथक् रहते ही नहीं। हमारा-उनका नित्य विहार है, नित्य नयी लीला है और नित्य नवीन सुख-संयोग है। तुम यह योग-विधान उनके लिये करो, जिनको श्यामसुन्दरका वियोग हो रहा है।'

दूसरीने अपना अनुभव बतलाया—

ऊधौ ! मोहन स्याम हमारे।
लिपटे रहत अंग अँग निसिदिन,
होत न कबहूँ न्यारे॥
मथुरा जाय मिले कुबजा तैं,
ये बाहर के खेल।
हमरौ उनकौ छुटत न कबहूँ,
हिय तैं हिय कौ मेल॥

उनके बिना न सत्ता हमरी,
छोड़ कहाँ बे जावैं।
बे न रहैं तो हमकूँ, जीवित
कोई कैसे पावैं॥
ऊधौ! तुम्हरे नहीं नेत्र सो,
हमहिं स्याम जो दीन्हें।
या तैं भरम परे तुम डोलत,
ग्यान-जोग पद लीन्हें॥
हम मैं उन मैं दीखत जो, कछु
कबहुँ बियोग-बिछोह।
रसबर्धन हित उदय होत, सो
लीला-रस-संदोह॥

'उद्धवजी! वे मनमोहन श्यामसुन्दर हमारे हैं, वे रात-दिन हमारे एक-एक अङ्गसे लिपटे रहते हैं, कभी अलग होते ही नहीं। वे मथुरा जाकर कुब्जासे मिले—यह सब तो उनके बाहरके खेल हैं—बाह्य लीलामात्र हैं। वस्तुतः हमारा-उनका जो हृदयसे हृदयका मिलाप है, वह कभी छूटता ही नहीं। (हमारी सत्ता ही उनसे है—) जब उनके बिना हमारा अस्तित्व ही नहीं, तब वे हमें छोड़कर कहाँ जायँ? वे यदि चले जायँ, वे न रहें तो हमको कोई जीवित ही कैसे पा सकता है? उद्धवजी! श्यामसुन्दरने हमें जो नेत्र दे रक्खे हैं, वे तुम्हारे पास हैं ही नहीं, (इसीसे तुम उनको हमसे दूर समझते हो और) ज्ञानयोगका पदक लिये भ्रममें पड़े भटक रहे हो। हममें और उनमें यदि कभी कुछ वियोग-विछोह दिखायी देता है तो (वस्तुतः वियोग नहीं है) वह तो रसवृद्धिके लिये लीला-रस-समूहका उदय है।'

तीसरी (श्रीराधारानी) ने अपना नित्य श्याम-संयोग और उनके सुखसे सुखी होना बतलाते हुए कहा—

ऊधौ! हम क्यौं स्यामबियोगिनि?
हम तो स्यामसुहागिनि नित ही,
नित ही स्याम-सँयोगिनि॥
स्याम हमारे बाहर-भीतर,
रहत नित्य ही छाये।
काया मैं, मन मैं, जीवन मैं,
केवल स्याम समाये॥
रमत सदा हम मैं बे मोहन,
हम नित उनमें रेलैं।
पै बे रमन न, नहिं हम रमनी,
एक बने दो खेलैं॥
मथुरागमन, कंसबध, कुबरी,
तैं जो उनको नेह।
हमरे मन न अर्थ कछु इनकौ,
नहिं कछु मन संदेह॥
स्याम नित्य ही हमरे हैं,
हमरे ही नित्य रहैंगे।
बिछुरैंगे न पलक भर हम तैं,
बिछुरन की न कहैंगे॥
लीला करैं कितहुँ वे, कैसी
लीलामय मनमोहन।
यातैं परमाह्लाद बढ़ै नित,
देखि हँसी मुख सोहन॥
सब कूँ बे सुख देयँ, सबहि तैं
वे प्यारे सुख पावैं।
उनके मनकी होय सदा,
यह अति हमरे मन भावै॥
हम तैं होय न बिलग कबहुँ जब,
तब हम क्यों रिस मानैं।
हमरे धन कूँ भले अन्य सब,
अपनौ ही धन जानैं॥

'उद्धवजी! हम श्याम-वियोगिनी क्यों हैं? हम तो सदा-सर्वदा ही श्याम-सुहागिनी हैं और नित्य-निरन्तर ही श्यामसुन्दरके संयोगमें रहती हैं। हमारे बाहर-भीतर नित्य ही श्यामसुन्दर छाये रहते हैं; हमारे तनमें, मनमें, जीवनमें केवल श्यामसुन्दर ही समाये हुए हैं। वे मोहन सदा-सर्वदा हममें रमण करते हैं और हम नित्य ही उनमें घुली-मिली रहती हैं, तथापि न तो वे रमण हैं और न हम रमणी ही हैं। एक ही दो बनकर खेल करते हैं—लीला-रसास्वादन करते हैं। उनका जो मथुरा जाना, कंस-वध करना और कुब्जासे स्नेह करना है, इन बातोंका हमारे मनमें अन्य कुछ भी न तो अर्थ ही है और न कुछ भी संदेह है कि (वे पराये हो गये हैं या अलग चले गये हैं।) वे श्यामसुन्दर नित्य हमारे

ही हैं, हमारे ही नित्य रहेंगे। वे पलभर भी न कभी हमसे बिछुड़ेंगे, न बिछुड़नेकी कहेंगे ही। वे लीलामय मनमोहन कहीं कैसी भी मनमानी लीला करें, उनके मुखपर शोभामयी हँसी देखकर उससे हमारा तो परमाह्लाद ही बढ़ेगा। वे प्रियतम सबको सुख दें और सब उनसे सुख प्राप्त करें, सदा उनके मनकी ही होती रहे, यह तो हमारे लिये बड़ी ही मनभावनी बात है। वे जब हमसे कभी अलग होते ही नहीं, तब हम क्यों बुरा मानें, भले ही हमारे इस धनको दूसरे सभी अपना ही धन जानते रहें।'

फिर एक प्रेमरसमयी गोपीने कहा—

ऊधौ ! प्रिय तें कहियो जाय।
है बाहरकी बात जदपि यह,
पै सुनियो मन लाय॥
ऊधौ कूँ पठाय सुधि लीन्हीं,
पठई निज कुसलात।
या तैं अति सुख भयौ हृदय मैं
नहिं आनंद समात॥
कंस मारि, बसुदेव-देवकी,
कूँ जो तुम सुख दीन्हौं।
उग्रसेन कूँ राज दियौ सो
सब ही अति भल कीन्हौं॥
बृंदाबन तजि बसे जाय
मथुरा हो सत्ताधारी।
सुखी देखि यातें तुम कूँ हम
सुखी भईं अति भारी॥
जदपि बियोग तुम्हारो दुःसह,
हृदयँ आग भभकावत।
पै तुम्हरौ मुख सुखी देख वह
रस-सुखमयी सुहावत॥
कुबरी तैं करि नेह प्रानधन !
जो तुम छिन सुख पायौ।
हमरे मन उमग्यौ सुख-सागर,
भयौ देखि मन भायौ॥
धन्य कूबरी नमन-जोग नित,
बनी जु प्रिय-सुख-साधन।
हम तो चरनसेविका ताँकी,
करैं समुद आराधन॥
सुखी रहौ तुम प्राननाथ ! नित
एक यही हम चाहैं।
जो तुम्हरे सुखके कारन हों,
तिन कूँ सदा सराहैं॥

'उद्धवजी ! तुम जाकर प्रियतमसे कह देना कि 'यद्यपि यह है तो बाहरी बात, तथापि तुम सुनना मन लगाकर। तुमने जो उद्धवको भेजकर हमारी सुधि ली एवं अपना कुशल-समाचार भेजा, इससे हमें बड़ा ही सुख मिला। यह आनन्द हमारे हृदयमें समा नहीं रहा है। तुमने जो कंसको मारकर वसुदेव-देवकीको सुख प्रदान किया, उग्रसेनको राज्य दिया सो सभी बहुत अच्छा किया। वृन्दावनका त्याग कर मथुरामें सत्ताधीश होकर बस गये, इससे तुमको सुख मिला, यह देखकर हम बहुत भारी सुखका अनुभव कर रही हैं। यद्यपि तुम्हारा वियोग दुःसह है और वह हृदयमें अग्निको भभकाता है परंतु तुम्हारे मुखको सुखी देखकर वह अग्नि रस-सुखमयी और सुहावनी बन गयी है। प्राणधन ! कुब्जासे प्रेम करके जो तुमने क्षणभर सुख प्राप्त किया, हमारी यह मनचाही चीज देखकर हमारे मनमें सुख-सागर उमड़ पड़ा; क्योंकि हम तो तुमको सुखी ही देखना चाहती हैं। कुब्जाको धन्य है, वह नित्य नमस्कारके योग्य है; क्योंकि वह हमारे प्रियतमका सुख-साधन बनी। हम तो उसकी चरणसेविका हैं और प्रसन्नतापूर्वक उसकी आराधना करना चाहती हैं। प्राणनाथ ! तुम सुखी रहो, बस, हम सदा-सर्वदा यही चाहती हैं, और जो कुछ भी जो कोई भी तुम्हारे सुखमें कारण हों, उनकी सदा प्रशंसा करती हैं।'

प्रियतम श्यामसुन्दरकी नित्य संनिधिका अनुभव करनेवाली और प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखको ही अपना परम सुख माननेवाली श्रीगोपाङ्गनाओंके पद-रज-कणको लाख-लाख नमस्कार !

पाप और पुण्यकी कमाई

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीः ।

(अथर्ववेद ७ । ११५ । ४)

अर्थात् ईमानदारीसे कमाया धन ही मनुष्यके पास ठहरता है । बेईमानीकी कमाईसे कोई फलता-फूलता नहीं ।

देवो देवेषु वनते हि वार्यं ।

(ऋग्वेद ६ । ११२)

धन उन्हींके पास ठहरता है जो सद्गुणी हैं । दुर्गुणीकी विपुल सम्पदा भी स्वल्प-कालमें नष्ट हो जाती है ।

मैं उपर्युक्त दो सूक्तियोंपर विचार कर रहा था कि अचानक मन पुरानी अनुभूतियों और विगत स्मृतियोंसे भर गया । एक-एककर स्मृति-पटलपर विभिन्न चित्र तेजीसे घूमने लगे । बड़े-बड़े अफसरोंके चित्र, गरीबोंके कुशाग्रबुद्धि बालकोंके चित्र, विपुल सम्पदाके स्वामियोंके चित्र जो आज इस संसारमें कुछ नहीं, केवल अपनी यादगार मात्र छोड़ गये हैं । मेरे सामने ये चित्र बोलने लगे हैं और अपनी-अपनी कहानियाँ कहनेको आतुर हो गये हैं । तो लीजिये इनकी सच्ची कहानियाँ सुनिये—

ये पहले व्यक्ति सुपरिंटेंडेंट ऑफ पुलिस हैं । मोटी तनख्वाह, आलीसान जीवन, घरमें पुलिस-विभागके अनेक मुफ्तमें आये हुए नौकर, घरकी मोटर, बढ़िया कपड़े । चारों ओर अमीरीके ठाट-बाट हैं । रंगीन जीवन है, घर जाइये, तो जैसे आप किसी छोटे-मोटे राजाके यहाँ ही आ गये । वह खातिर होती कि क्या कोई जागीरदार करेगा । सरकारसे छः-सात सौ रुपये वेतन मिलता होगा, पर ठाट ऐसे कि डेढ़ हजार व्यय करें । शराब और मांसका दौरदौरा, वेश्याके नृत्य भी ! शहरमें उनकी वह धाक हुई कि क्या कहें । लोग कहते, 'बड़े ऊँचे तबकेका अफसर हैं । क्या शानसे रहते हैं । खूब खाते-पीते हैं ।' सुपरिंटेंडेंट साहबके एक मात्र इकलौता पुत्र है, जो कालेजमें अमीरीके ठाट-बाटसे आता है, मोटरके बिना धरतीपर पाँव नहीं रखता । पढ़नेमें मन्दबुद्धि है, पर अध्यापक लोग उसकी वह इज्जत करते हैं, जो किसी राजकुमारकी करते होंगे । अभिनय, संगीत और नाटकमें इस लड़केको सर्वाधिक दिलचस्पी है । कॉलेजमें ड्रामा-विभाग, सारा उसीके बलबूतेपर चलता है । वह स्वयं अभिनय भी करता है, मित्रमण्डलीको खूब खिलाता भी है । एक ओर हम हैं जो एक मामूली अध्यापकके पुत्र हैं, हमारी पासवाली सीटपर बैठे हैं, सुपरिंटेंडेंट साहबके कुँवर साहब । उनका नौकर बाहर बैठा है, टिफिन लिये । किसीको उनसे बात करनेकी आज्ञा नहीं है; क्योंकि उनके बढ़िया सूटके खराब हो जानेका डर है । हम सब कक्षामें हैरत और आश्चर्यसे उनकी अमीरीको देखते और मन-ही-मन ईर्ष्या करते । दिन-रात पढ़कर हम उत्तीर्ण होते, जब कि वह लड़का न पढ़नेपर भी उठते-उठते मैट्रिकमें आ गया । बड़ी शानसे एक लखपति (या शायद करोड़पति) की कन्यासे उसका विवाह हुआ । विवाहमें अनेक बहुमूल्य हीरे-जवाहिरात दहेजरूपमें मिले ।

अब उनके ठाटके क्या कहने । मित्रोंको दावतें, सैर-सिनेमा, मिष्टान्न । उनकी पढ़ाई-लिखाई मैट्रिकसे ही छूट गयी । पिता पुलिसके ऊँचे अफसर थे । उनके प्रभावसे थानेदार बन गये । थानेदारीमें वेतन सौके लगभग-पर खर्च पाँच सौ रुपये । लोगोंको आश्चर्य होता कि यह सब कैसे आता है ? फिर उनके पिताजीकी मृत्यु हुई । जिंदगीने पलटा खाया । हाथ तंग होने लगा । विलास, पाप और फजूलखर्चीसे तो कारूँका खजाना भी खाली

हो जाता है। उनके पिताकी सम्पत्ति उड़ने लगी।

आज उन सज्जनकी हालत यह है कि घरके सब मकान—जायदाद बिक चुकी है। फटे हाल शराबकी दूकानोंके आगे टहलते नजर आते हैं। पत्नी, जिनके पास चार कन्याओंका बोझ है, उनसे पृथक् रहती है। उनपर मक्खियाँ भिनकती हैं। यदि किसी पुराने सहपाठीसे मिल जाते हैं तो शराबके लिये दो रुपये उधार माँगते हैं। सभी उनसे कतराते हैं। तन ढकनेतकके लिये उनके पास वस्त्र नहीं है। मैं जब कभी उन्हें देखता हूँ, उनके पिताजीके समयसे आजतकका उनका पूरा जीवन सिनेमाके फिल्मकी तरह मनोजगत्‌पर घूम उठता है!

दुर्गुण और गरीबीका कैसा निकट सम्बन्ध है, यह उनके जीवनसे स्पष्ट है। लक्ष्मी चञ्चला है सही, पर वह सद्गुण, संयम, उदारता, प्रेम और शीलमें ही निवास करती है। यदि हममें दुर्गुण हैं, विलास-व्यभिचार-व्यसन हैं तो वही लक्ष्मी हमारे पतनका कारण बन जाती है। इसीलिये अथर्ववेदमें प्रार्थना की गयी है—

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा-
भिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा
हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

(अथर्व० ७। ११५। २)

अर्थात् "हे जगदीश्वर! मेरे पास जो ऐसी लक्ष्मी पड़ी हुई है जो कि 'अजुष्टा' है, जो सेवित नहीं होती, जो किसीकी प्रीतिमय सेवामें नहीं आती, वह किस कामकी है? वह लक्ष्मी 'लक्ष्मी' नहीं है।' वह लक्ष्मी दुराचार बढ़ानेका कारण होती है। 'अजुष्टा' लक्ष्मी पतनका भारी प्रलोभन होती है। ऐसा धन बुरे कार्योंमें ही बरबाद हुआ करता है और मनुष्यको नीचे गिरा देता है। ऐसी लक्ष्मीको मैं मोहके मारे त्यागता (परहितमें दे देता) भी नहीं हूँ और उस सबका स्वयं उपयोग भी नहीं कर सकता हूँ। इसलिये वह या तो बुरे काममें पतित हो जाती है या यों ही सड़कर नष्ट हो जाती है। पर सबसे बुरी बात तो यह है कि यह मेरी ऐसी 'लक्ष्मी' मुझे चिमटी हुई, हर तरह मुझे ही बरबाद करती है, मेरे जीवन-रसको चूसती है। अतः हे मेरे प्रेरक प्रभु! मुझमें ऐसी हिम्मत दो कि मैं उस लक्ष्मीको—इससे पहले कि वह पतित होने लगे और मुझे विनष्ट करने लगे—अन्यत्र धारित कर दूँ—किसी अच्छे कार्यमें लगा दूँ, उसे अपनेपर लादे न रक्खूँ। हे सवितः! तुम ही उस दुर्लक्ष्मीको यहाँसे तो हटा दो। यह 'लक्ष्मी' नहीं है, किंतु वह मेरे लिये विनाशक शापरूप है। वह मुझपर मोहद्वारा चिमटी हुई केवल मेरे जीवन-रसको सुखा रही है, जैसे वन्दना बेल जिस वृक्षपर लगती है उस वृक्षको बिल्कुल सुखा देती है, वैसे ही यह अजुष्टा लक्ष्मी मुझे घेरे हुए है, मेरा विनाश कर डालनेके लिये मुझे आच्छादित किये हुए है। हे प्रभो! तुम इससे मुझे छुड़ाओ। मेरे मोहको भङ्ग करके इसे यहाँसे हटानेका मुझे सामर्थ्य दो, नहीं तो, यह 'अजुष्टा' लक्ष्मी मुझे चूसकर खतम कर रही है—मेरी उन्नतिको रोक रही है, मेरे आत्मतेजको हरती जा रही है।

हे प्रेरक! मेरी प्रार्थना है कि आगेसे ऐसा धन तो मेरे पास आने ही न पाये। मुझे तुम बहुत ही थोड़ा-सा धन देना, पर वह धन चमकता हुआ, तेजस्वी, निष्कलङ्क हो, हिरण्य हो, हितरमण हो। वह धन सर्वांशमें उपयोग हो, उसका एक-एक अंश मेरे तेज, मेरे आत्मवीर्यका बढ़ानेवाला हो। तुम्हारे 'हिरण्यहस्त'से ही अब मैं धन चाहता हूँ। तुम्हारे चमकते हुए 'हिरण्यहस्त'से अब मुझे सदा ऐसा तेजस्वी धन मिलता रहे जिसका कि एक-एक कण मेरे आत्मतेजको बढ़ानेमें व्यय हो तथा वह अन्यत्र भी जहाँ जाय, वहाँ मनुष्योंके तेजके बढ़ानेमें ही उपयुक्त हो।"

हमारे यहाँ एक क्लर्क थे, मुश्किलसे ४५)–६०) रुपये मासिक पाते होंगे। उनके चार पुत्र और एक कन्या

थी। एक अंधेरे-से आधे कच्चे, आधे पक्के मकानमें रहते थे। आज हमारे मुहल्लेमें उनका वह पुराना मकान भर है। मुझे स्मरण है उनका पूरा जीवन बड़ी गरीबीमें बीता। अपने लड़कोंको पुस्तकें भी वे मुश्किलसे खरीदकर देते रहे। उनकी फीसें माफ रहीं। आज वे तो मर चुके हैं, पर उनका एक पुत्र इंजीनियर है, एक उच्चतम सरकारी अफसर है, एक इंगलैंड-रिटर्नड प्रोफेसर है और एक अध्यापक। सब बच्चे फल-फूल रहे हैं और समाजमें बहुत ऊँची पोजीशन बना ले गये हैं। उन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि ये दीन-हीन गरीब क्लर्कके पुत्र हैं। उनकी थोड़ी-सी पुण्यकी कमाईमें ऐसी बरकत हुई कि वह चौगुनी-अठगुनी होकर फूली-फली है।

एक बारकी बात है कि मेरे पूज्य पिताजी, जिनकी आयु सत्तरके लगभग है, अपनी मासिक पेंशन बैंकसे लेकर लौट रहे थे। घर आये, तो माळूम हुआ कि वह पेंटकी जेबमेंसे रूमाल निकालते हुए कहीं बाजारमें ही गिर गये हैं। उनके मानसिक दुःखका क्या पूछना! बस, घर आये और अधमरे-से हो गये। चारपाईपर पड़ गये, खाँसी और बुखार शुरू हो गये। कुछ घंटोंमें ही वे ऐसे बीमार हो गये जैसे महीनोंके बीमार हों। वे पेशेसे अध्यापक रहे हैं और पुण्यकी कमाईमें अखण्ड विश्वास रखते हैं। वे सोच रहे थे, 'मैंने कभी जीवनभर अधर्मका एक पैसा नहीं लिया, हे भगवन्! फिर यह हानि क्यों हुई।' इसी प्रकार तीन दिन व्यतीत हो गये।

मैं कालेजमें था। घर आया तो माळूम हुआ कि थानेसे टेलीफोन आया था कि 'आपके खोये हुए रुपये मिल गये हैं। आकर ले जाइये।' बड़ा आश्चर्य हुआ। थानेमें पता चला कि बैंकके आगे लिफाफेमें रक्खे हुए ये रुपये मिले हैं। पुराना लिफाफा था। पर उसपर पिताजीका नाम लिखा था। पानेवालेने वे रुपये मय लिफाफेके थानेमें पहुँचाये। वहाँ उसपर लिखे पतेकी सहायतासे हमारा पता लगा और तीन दिन बाद पुण्यकी कमाईके वे रुपये मिल गये।

इसी प्रकारकी अनेक घटनाएँ हमारे समाजमें दिन-रात होती रहती हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि यह रुपया, जो पापसे कमाया जाता है, बहुत जल्दी नष्ट होता है और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष मार्गोंसे अपने-आप निकल जाता है। यदि इसी पीढ़ीमें नहीं तो अगली पीढ़ीमें तो निश्चय ही समाप्त हो जाता है। पापकी कमाई कभी फूलती-फलती नहीं। पुण्यका हर पैसा बहुत बल रखता है। पुण्यात्मा अपने सामने और मरनेके उपरान्त भी फूलता-फलता ही रहता है। पुण्यकी जड़ हमेशा हरी रहती है। पापसे (रिश्वत, काला बाजार, धोखेबाजी, मिलावट, भ्रष्टाचार, बरबस हड़पने) कमाया हुआ धन मनुष्यके पास ठहरता नहीं। वह घरकी पूँजीको भी ले जाकर कंगाल बनाकर छोड़ जाता है। वेश्याओंकी कमाई बहुत अधिक होती है। पर क्या आपने कभी किसी वेश्याको स्थायीरूपसे समृद्धिशालिनी देखा है? एक हाथ आती है, तो वह पापकी कमाई दूसरी ओरको निकल जाती है। उससे क्षणिक प्रकाश और टीपटाप भले ही दिखायी दे जाय, पर जैसे तीव्र प्रकाशके बाद घनघोर अन्धकार छा जाता है, उसी प्रकार वह कमाई क्षणमात्रमें उड़ जाती है। चोर-डाकुओं, हत्यारों, जेबकटोंकी कमाईका क्या ठिकाना? उनकी पापकी कमाई शराब, विलास और गंदे कार्योंमें नष्ट होती है। चोरके छप्परपर फूँसतक नहीं रहता। इसी प्रकार अनीति, झूठ, फरेब और बेईमानीसे धन कमानेवाले गरीब-के-गरीब ही बने रहते हैं। यही ईश्वरकी सृष्टिका नैतिक विधान है। यह ईश्वरीय न्याय अटल और शाश्वत है।

पुण्यकी कमाईके साथ दैवी अणु-परमाणु जुड़े हुए हैं। इनसे दिव्य वातावरणका निर्माण होता है। ये अणु-परमाणु बड़ी तीव्रतासे मनुष्यके चारों ओर परिक्रमा किया

करते हैं। इन परमाणुओंके मध्यमें ईश्वरीय शक्ति विद्यमान रहती है। यह तत्त्व बड़ा शक्तिमान् है। जर्मनीके विख्यात दार्शनिक काण्ट महाशयने इस नैतिक नियमको अकाट्य और शाश्वत कहा है। जो भी इस नैतिक विधानके विरुद्ध जाते हैं, वे ईश्वरीय दण्ड पाते हैं। मनुष्यकी जब विवेक-बुद्धि विपरीत होती है, तब वह विचारशून्य हो मनमाना काम करता है, उनके नियमोंको तोड़ता है, पर उसे मानसिक शान्ति नहीं मिलती, आत्मसंतोष प्राप्त नहीं होता।

प्रो० लालजीराम शुक्लके शब्दोंमें, 'यह नैतिक नियम एक वास्तविक तथ्य है। यह नियम विवेकपूर्ण है। मनुष्य जैसा है, वैसा ही वह अपने संसारको भी देखता है। जिन व्यक्तियोंका विवेक जाग्रत् नहीं होता, वे न तो संसारमें किसी नियमको कार्यान्वित होते हुए देखते हैं और न अपने जीवनकी घटनाओंमें वे केवल घटनाओंको देखते हैं और उनसे सुखी अथवा दुखी होते हैं, परंतु नियमको न जाननेके कारण बार-बार उन्हीं भूलोंको करते रहते हैं। उन्हें सुधारनेके लिये प्रकृति उन्हें दण्ड देती है। अन्तर्जगत्‌में कार्य करनेवाला यह नैतिक नियम अकाट्य है।'

हमारी कमाईके पीछे-पीछे जो आध्यात्मिक नियम कार्य करता है, उसे हमें समझना चाहिये। सम्भव है ईमानदार आदमी प्रत्यक्षरूपसे कुछ निर्धन प्रतीत हो, पर अन्ततः वह घाटेमें नहीं रहता। उसे गुप्तरूपसे ईश्वरीय पूँजी प्राप्त होती रहती है, जो उसकी थोड़ी-सी आयसे मिलकर बड़ा भारी आकार ग्रहण कर लेती है।

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चले जीवितमन्दिरे।
चलाचले तु संसारे धर्म एको हि निश्चलः॥

(चाणक्य)

'न तो लक्ष्मी सदा रहनेवाली है न प्राण, जीवन और घर-द्वार। चलाचलीके इस डेरे—संसारमें केवल एक धर्म ही सदा रहनेवाली वस्तु है।'

मैं सबमें सच्चिदानन्द भगवान्‌को देखकर परमानन्द प्राप्त करूँगा

नहीं करूँगा कभी किसीका अब तन-मन-धनसे अपमान।
सबमें सदा देख प्रभुको मैं सदा करूँगा शुचि सम्मान॥
परुष-व्यंग्य-निन्दा वचनोंका नहीं करूँगा मैं व्यवहार।
सदा करूँगा सबका सुधामयी हित-वाणीसे सत्कार॥
सबमें प्रभुके मैं अनुपम गुणगण ही देखूँगा सब ओर।
नमन करूँगा मैं सबके पद-कमलोंमें हो भाव-विभोर॥
प्राणि-पदार्थ सभी देंगे फिर मुझको नित्य परम आनन्द।
क्योंकि सभीमें दीख पड़ेंगे मुझे नित्य सत्-चित्-आनन्द॥

पूर्णकाम

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'तृष्णाक्षये स्वर्गपदं किमस्ति'

'देवाधिपकी मुखश्री आज म्लान दीखती है !' सुरगुरुने अमरोंकी अर्चा स्वीकार कर ली थी और महेन्द्रसे अभिवादित होकर वे सिंहासनपर बैठ चुके थे। इन्द्र एवं अन्य देवताओंने भी आसन ग्रहण कर लिया था। 'सुधर्मा सभामें आज चिन्ताकी अरुचिकर गन्ध है।'

देवता गन्धग्राही होते हैं। सुरभि आघ्राण ही उनका आहार है। अत: यदि उन्हें मनोभावोंकी गन्ध भी आती हो तो कोई आश्चर्यकी बात तो है नहीं।

'भारतवर्ष ही देवधानीका पोषक है।' सुरपतिने खिन्न स्वरमें कहा—'उस कर्मभूमिसे उठी स्वाहा-समन्वित सुरभि ही सुरोंका पोषण करती है; किंतु अनेक बार उसके जन त्रिविष्टपको आशंकाकुल कर देते हैं।'

'असुरोंने उस कर्मभूमिपर आधिपत्यकी कोई योजना बनायी है ?' बृहस्पतिका प्रश्न कहता था कि यह चर्चा कुछ देर चलेगी। गन्धर्वोंने अपने वाद्य उठाये और अप्सराएँ एक-एक करके देवसभासे जाने लगीं।

'भगवान् वामनने जबसे उपेन्द्रपद स्वीकार करनेका अनुग्रह किया, असुरोंका साहस हतप्रभ हो गया। इस समय कर्मभूमि उनके लिये असह्य हो गयी है।' वासवके सहस्र नेत्रोंमें आशंका साकार थी—'मानव जब अपने स्वरूपमें आ जाता है, हम सुरोंके लिये भी वह दुराधर्ष होता है। इधर ब्रह्मावर्तमें एक ऋषिकुमार सुरसरिके तटपर आ बसा है। उसका तप विरमित ही नहीं होता।'

'मदन-देव और मलयमारुतका स्मरण क्या इस बार देवाधिपको अनावश्यक लगने लगा है ?' देवगुरुने पूछा। वे स्वयं इधर दीर्घकालसे अपने आराधनमें लीन थे। उन्हें न अमरावतीका कोई समाचार ज्ञात था और न धराका ही।

'वसन्त उस विप्रके मनको अधिक एकाग्र करता है। शीतल पवन और विकच पुष्पराशि उसे अन्तर्लीन होनेकी प्रेरणा देती है।' महेन्द्र कह रहे थे—'मन्मथके समस्त शर कुसुम-धनुषपर ही स्तम्भित हो गये उसकी आश्रम-सीमामें और अप्सराओंका संगीत जैसे ही प्रारम्भ हुआ, वह स्वयं करताल उठाये उनके बीच आ गया। नेत्र बंद किये उद्दाम नृत्य-कीर्तनमें तन्मय उस अद्भुत मानवको स्वर्ग-सुन्दरियाँ कैसे प्रभावित करतीं। उसे अपने ही शरीरकी सुधि नहीं रही तो फिर उसके आस-पास देवाङ्गनाएँ सावरण हों अथवा निरावरण—क्या अर्थ रह गया इसका।'

'तपस्वी शीघ्र क्रुद्ध होता है और क्रोध कामकी अपेक्षा तपस्तेजका अधिक नाशक है।' देवगुरुने एक और मार्ग सुझाया। 'ठीक है कि महेन्द्रने यह कार्य कभी कामानुजको नहीं दिया; किंतु जब अग्रज विफल हो गया····।'

'अनुजके लिये अवकाश भी तो हो।' इन्द्र बीचमें ही बोले—'वह कहाँ कभी रुष्ट होता है। अद्भुत तापस यदि वह न होता, हमें इतनी चिन्ता क्यों होनी थी। रूक्षता उसके हृदयका स्पर्श नहीं करती। चाहे जब, चाहे जिस नियमको स्थगित करके उपस्थित श्रोताको कोई कथा सुनाने लगेगा अथवा स्वयं करताल उठा लेगा। गद्गद कण्ठ, रोमाञ्चित देह और अश्रुप्रवाह तो मानो रुकना जानते ही नहीं।'

'आप नहीं मानते कि वह अमरावतीका अधिकारी हो गया है ?' इस बार सुरगुरुका स्वर कुछ भिन्न प्रकार-का था—'समुचित अधिकारीको पुरस्कृत करनेमें यदि सुरेश्वर प्रमाद करने लगें, लोकपालोंकी नियुक्ति पितामह-ने क्यों की। उस तापसका पार्थिव देह साधनपूत हो चुका। सत्त्वशुद्ध शरीर यहाँ आकर श्रीवृद्धि ही करेगा देवधानीकी।'

'वे वन्दनीय यदि स्वीकार कर लें, हम उनका स्वागत करके अपनेको कृतार्थ मानेंगे।' महेन्द्रने गुरुके चरणोंमें मस्तक झुकाया। 'एक क्षणको भी उन्होंने त्रिविष्टपका स्मरण किया होता, उन्हें यह दिव्य भूमि अलभ्य नहीं थी। किंतु वे तपोधन—उनके संकल्पकी अपेक्षा मुझे क्यों करनी चाहिये ? श्रीचरण कुछ काल मेरे सदनको पवित्र करें ! मातलि मेरा रथ लेकर धराको धन्य करने जा रहे हैं।'

मातलिको आदेशकी अपेक्षा नहीं थी। देवता संकल्प-साक्षी होते हैं। देवराजके चित्तमें जो संकल्प उठा, मातलिके लिये वही पर्याप्त आदेश था।

× × ×

'भगवन् आप····।' तपस्वी तनिक अस्तव्यस्त उठ खड़ा हुआ। वह श्रद्धाप्राण—ध्यानसे नेत्र खोलते ही जब एक रत्नाभरणभूषित ज्योतिर्देह पुरुष सम्मुख दीख पड़ा, त्वरापूर्वक अभिवादनके लिये उठा वह विप्रकुमार।

'मैं प्रणम्य नहीं देव !' मातलिने झटपट दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया—'देवराजका सारथि है यह जन और इसे मातलि कहा जाता है। श्रीचरणोंके दर्शन करके आज यह सुर-सूत धन्य हुआ।'

'आप मानव-वन्द्य हैं और आज तो अतिथि हैं इस अकिंचनके।' तपस्वीने भी प्रणाम किया और आसन दिया। 'सुरसरिका जल और दो धराके क्षुद्र सुमन—यहाँ आपका सत्कार करनेको और है ही क्या।'

'आपके प्रेमाश्रुसे सिंचित ये रज:कण स्रष्टाके भी भालको भूषित करने योग्य हैं।' मातलिने धूलि उठाकर मस्तकपर लगा ली; किंतु तपस्वीके द्वारा दिया अर्घ्य-पाद्यादि उन्हें स्वीकार करना पड़ा।

'आप कोई आदेश देकर इस जनको कृतार्थ करेंगे।' नम्रताकी मूर्ति तापस अर्चाके अनन्तर अनुरोध कर रहा था।

'प्रार्थना करने ही आया हूँ।' मातलिको स्वयं उत्कण्ठा थी—'देवराजने अपना रथ भेजा है कि श्रीचरण अब अमरावतीको अपनी उपस्थितिसे पवित्र करनेकी कृपा करें।'

'मनुकी संतानको सुरोंका आदेश श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना चाहिये।' तपस्वीने कोई आपत्ति नहीं की। उन परिग्रहरहित एकाकी साधुको कोई तैयारी तो करनी ही नहीं थी। मातलिके पीछे वे रथपर विराजमान हो गये। सशरीर स्वर्ग जानेमें कोई महत्ता भी है, यह बात उनके मनमें आयी ही नहीं।

'देवधानी धन्य हुई।' महेन्द्रने आगे आकर स्वागत किया। उन्हें आशा ही नहीं थी यह युवा तपस्वी इतनी सरलतासे उनका अनुरोध स्वीकार कर लेगा।

'आपको कोई असुविधा न हो, देवराज इसका ध्यान रक्खेंगे !' सुरगुरुने अङ्कमाल दी प्रणिपात करते विप्रकुमारको। 'आप देवधानी देख लें। जो सौध अनुकूल लगे वह आपके लिये सुरक्षित है, ऐसा ही मानें। यहाँ सभी आपका सख्य प्राप्त करके प्रसन्न होंगे और जिसे भी सेवाका अवसर प्राप्त होगा, वही कृतार्थ समझेगा अपनेको।'

'मैं तो आपका आज्ञानुवर्ती हूँ।' तपस्वीने बद्धाञ्जलि निवेदन किया—'मेरे योग्य जो सेवा सुरगुरु अथवा सुराधिप निर्दिष्ट करें ! वैसे मुझे अपने अनुकूल नभो-गङ्गाका वह रम्यतट लगता है, जिसे मैं नगर-परिखाके

बाह्य भागमें देख आया हूँ। यदि आप सब अनुमति दें, मुझे वहाँ आसन लगानेमें प्रसन्नता होगी।'

महेन्द्रने सुरगुरुकी ओर देखा—'यह मानव तो इस देवभूमिमें भी तपोवन बनानेका स्वप्न देखता प्रतीत होता है।'

'इनकी इच्छाका अतिक्रमण करनेकी शक्ति सुरोंमें नहीं है, यह हमें स्मरण रखना होगा।' महर्षि बृहस्पतिने देवराजको संकल्पकी भाषामें ही उत्तर दे दिया और तपस्वीसे बोले—'जहाँ आप प्रसन्न हों, हमें कोई बाधा नहीं।'

× × ×

'हम बार-बार श्वासरोधकी पीड़ासे त्रस्त होती हैं।' अप्सराओंने अभियोग उपस्थित किया—'मानव-तपस्वी जब श्वासरोध करके वृत्तियोंको केन्द्रित करता है, हमारे लिये अपने अङ्ग हिलाना कठिन हो जाता है और वह प्रायः अपने आसनपर बैठा ही रहता है।'

'सुरकाननके सुमन म्लान हो गये हैं।' किन्नरोंने देवराजसे निवेदन किया—'उपोषित मानवका उष्ण श्वास सुरपादपके लिये भी असह्य होता जा रहा है।'

'चित्तमें आनन्दका उत्स आवे तो संगीतके स्वर रसको साकार करते हैं।' गन्धर्वोंने वाद्य त्याग दिये सुधर्मा सभामें देवेन्द्रके सम्मुख—'धरासे आया अतिथि चित्त-वृत्तिनिरोध कर लेता है और हमारे मानसमें कोई वृत्ति उठ ही नहीं पाती।'

'अमरावती अब अमरोंके निवासके लिये अयोग्य होती जा रही है।' देवता अत्यन्त क्लेशभरे स्वरमें कह रहे थे—'हम सब सत्त्ववृत्ति हैं। मानव जब सत्त्वका भी रोध करके ऊपर उठता है, लगता है हमारी सत्ता ही समाप्त हो जायगी।'

'अदम्य है तापसका अनुभव!' स्वयं देवगुरुने स्वीकार किया—'सम्पूर्ण अमरावतीका वातावरण उसकी उपस्थितिमात्रसे उसके द्वारा नियन्त्रित होने लगा है।'

'हमारे उद्यान अब उजड़े लगते हैं। हमारे सदन क्रीड़ाविरहित हैं। सुधातकमें हमें अब स्वाद नहीं प्राप्त होता।' सुरेन्द्र स्वयं संत्रस्त हो उठे थे—'अपने आवासमें तपस्वीका प्रभाव हमें बलात् भोगवर्जित किये दे रहा है।'

'सुर साधनाका शान्त आनन्द आस्वादन नहीं कर पाते।' देवगुरुने समस्याको समझ लिया था—'और तपस्वीकी परम तत्त्वसे एकात्मता उन्हें गुणके हीन सुखमें रहने नहीं देती। फलतः एक अद्भुत आकुलताका अनुभव हम सब करने लगे हैं।'

'वे तपोधन करते क्या हैं?' देवगुरुने कहा—'हम निकटसे इसे एक बार भलीभाँति देख लें।'

'वे जबसे आये हैं, उन्होंने एक भी संकल्प नहीं किया।' गन्धर्वश्रेष्ठ हूहूने बताया; क्योंकि तपस्वीकी सेवाका विशेष भार उन्हींपर था। 'इस दिव्यभूमिमें आकर उन्हें न क्षुधा व्याप्त हो सकती और न पिपासा ही। पार्थिव मल भी यहाँ उनके श्रीअङ्गके अन्तर्बाह्य स्पर्शसे वञ्चित हैं। भिक्षा करनेका भला वे क्यों स्मरण करें। स्नान अवश्य वे बार-बार करते हैं। व्योमगङ्गा-के तटको सम्भवतः इस सुविधाकी दृष्टिसे ही उन्होंने चुना।'

'आपने उन्हें सुधापानका अधिकारी नहीं माना?' देवगुरुने उपालम्भकी दृष्टिसे देवराजको देखा।

'वे इच्छा करते, सुरा-सुराङ्गना-सुरतरुसुमन—सभी अमरावतीके भोग सार्थक बनते।' शक्रका स्वर शिथिल था—'इच्छाके अभावमें कोई विषय स्वाद नहीं दे पाता। सृष्टिकर्ताने इसीलिये स्वर्गकी मर्यादा निश्चित की—इच्छा करते ही भोगकी उपलब्धि। अनिच्छित भोग तो हम किसीको दे नहीं पाते और वे अद्भुत अतिथि हैं कि इच्छा करना जैसे उन्हें आता ही नहीं।'

'वे कर्मभूमि भेजे नहीं जा सकते, क्योंकि अमरपुर

आकर कोई पुण्य क्षीण हुए बिना धरापर जाता नहीं। उन अमित प्रभावके पुण्य !' सुरगुरु चिन्तित हुए—'स्वर्ग उनके तेजको सहन नहीं कर पा रहा है और ऊर्ध्व लोकोंमें किसीको हम भेजनेकी शक्ति नहीं रखते !'

'जो अविकारी हैं, उन्हें कोई भेजे; इसकी अपेक्षा कहाँ है ?' सहसा देवर्षिका स्वर आया। वे नित्य परिव्राट् अकस्मात् अमरावती आ पहुँचे थे। सुरेन्द्रको आश्वासन प्राप्त हुआ।

'भगवन् ! हमने एक मानव-तपस्वीको सशरीर ले आनेकी भूल की !' देवगुरु संकोचपूर्वक बोले।

'वह क्षीण-तृष्ण है और जब तृष्णा ही न रहे चित्तमें स्वर्ग उसके लिये सत्ताशून्य हो उठता है।' देवर्षिने वाक्य पूरा किया—'उसकी उपस्थितिने देवधानी-की सत्ता संदिग्ध बना दी है; किंतु उस महाप्राणका स्वागत करनेके लिये श्वेतद्वीपके षडूर्मिरहित क्षीणतृष्ण पावनप्राण समुत्सुक हैं। मैं उसे लेने ही आया हूँ।'

तपस्वीको कितनी प्रसन्नता हुई देवर्षिके साथ प्रस्थान करनेमें। भगवान् नारायणने स्वयं उसे स्मरण किया था। उसका भाग्य............ ।

श्रीगुरु गोरखनाथ

[वास्तविक योगी]

(लेखक—साहित्याचार्य रावत श्रीचतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी)

श्रीगुरु गोरखनाथजीकी वाणीका समादर संतसमाजमें अच्छा होता पाया गया है। इनकी वाणीका प्रभाव अभी जन-साधारणपर उतना नहीं पड़ा, जितना कि भक्तशिरोमणि तुलसीदासजीकी रामायणका।

श्रीगुरु गोरखनाथकी वाणीने प्रत्येक वस्तुका स्पर्श किया है और जातिविशेषको भी उसके कर्मानुसार ही अच्छा उपदेश दिया है। अपनी वाणीमें योगियोंके लिये 'अवधूत' शब्दका प्रयोग किया है। अतः अवधूतोंको सम्बोधन करते हुए उनको सुधारनेकी शिक्षा दी है, जैसा कि नीचेके अवतरणोंसे प्रकट होता है। जिनमें शिक्षा दी गयी है कि सब व्यवहार युक्तिपूर्वक और सोच-समझकर करने चाहिये—

वाणी

हबकि न बोलिबा ठबकि न चालिबा धीरै धरिबा पाँवं।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा भणत गोरष रावं॥
भरथा (भरीया) ते थीरं झलु झलंति आधा।
सिधे सिध मिल्या रे अवधू बोल्या अरु लाधा॥
नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ़ करि राषहु चीया।
काम क्रोध अहंकार निबारौ तौ सबै दिसंतर कीया॥

एकदम अचानक जल्दीसे बोलना नहीं चाहिये। पाँव फटाफट करके यानी पटकते हुए नहीं चलना चाहिये। धीरे-धीरे पैर रखना चाहिये। घमंड नहीं करना चाहिये। सदैव सहज स्वाभाविक स्थितिमें रहना चाहिये, यह गोरखनाथका उपदेश है। जो भरे-पूरे हैं और ज्ञानयुक्त हैं वे ही स्थिर और गम्भीर होते हैं। ऐसे पूरे योगी अपने ज्ञानका प्रदर्शन नहीं करते फिरते। जिस प्रकार ओछे घट छलकते हैं उसी प्रकार अधूरे योगी अपना प्रदर्शन करते फिरते हैं और अपने चञ्चल स्वभावके कारण ऐसे योगी यत्र-तत्र ज्ञानका दिखावा करते हैं। सिद्धि-प्राप्त पुरुष ऐसे छिछोड़ोंसे नहीं बोला करते, अतः हे अवधूत ! सिद्धको पाकर ही सिद्ध बोलते हैं।

योगीजनोंका कोई घर-बार नहीं होता, सर्वत्र और सारी दुनियाँ ही उनका घर है, इस कारण वे सब जगह घूमते रहते हैं। यही उनकी विरक्तताका द्योतक है। इनमेंसे कुछ ऐसे भी योगी हैं जिनको देशाटन करनेकी आदत-सी पड़ गयी है। ऐसोंके लिये श्रीगोरखनाथका उपदेश है कि देश-देशान्तरमें भ्रमण करना स्वयं देशान्तरके उद्देश्य अथवा लक्ष्यसे आवश्यक नहीं है। तात्पर्य यह है कि जब चित्त स्थिर है और काम-क्रोध-लोभ-मोह तथा अहंकारका निवारण हो गया है तो फिर सभी देशान्तर हो गये। कारण यह है कि निवृत्तिके ही लिये देशान्तर किया जाता है जो चित्तकी स्थिरतासे निष्पन्न हो जाता है। यहाँ 'चीया' शब्दका अर्थ है चित्त। योगीको तो चाहिये—

'थोड़ा बोलै थोड़ा षाइ तिस घटि पवनां रहै समाइ।'

कम बोलना चाहिये और थोड़ा खाना चाहिये; यह नहीं कि भोजनको अनाप-शनाप खाया जाय। जो मितभाषी तथा अल्पाहारी है उसके शरीरमें पवन समाया रहता है।

अवधू अहार तोड़ो निद्रा मोड़ो कबहु न होइगा रोगी।
छठै छमासै काया पलटिबा ज्यूं को को बिरला योगी॥
देव कला ते संजम रहिबा भूत कला आहारं।
मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी तत सारं॥
अवधू निद्रा कै घरि व्याल जंजालं अहार कै घरि चोरं।
मैथुन कै घरि जुरा गरासै अरध उरध लै जोरं॥

हे अवधूत! आहारको तोड़ो यानी कम खाओ, मिताहारी बनो और सोओ भी नहीं और छठे-छमासे कभी-कभी काया-कल्प भी किया करो। इस क्रियासे कभी रोगी नहीं हो पाओगे, ऐसा तो बिरले ही योगी कर पाते हैं।

आहार उतना ही करना चाहिये जिससे शरीरकी रक्षा हो सके और जिससे अपने देवत्वकी रक्षा हो इस संयमसे रहना चाहिये। जो योगी मन-पवनको संयुक्तकर उन्मनावस्थामें लीन कर देते हैं वे ही तत्त्वका सार प्राप्त करते हैं। निद्रामें आसक्ति होनेसे जीव कालके जंजालमें फँसता है और मैथुनसे बुढ़ापा आ घेरता है। अतः नीचे गिरनेवाले (अरध) रेतसको ऊर्ध्वावस्थासे जोड़ना चाहिये। तात्पर्य यह है कि ऊर्ध्वरेता होना चाहिये।

अति अहार यंद्री बल करै, नासै ग्यान मैथुन चित धरै।
व्यापै न्यंद्रा झंपै काल, ताके हिरदै सदा जंजाल॥
घटि घटि गोरष वाही क्यारी, जो निपजै सो होइ हमारी।
घटि घटि गोरष कहै कहाँणी काँचै भांडै रहै न पाणी॥

अत्यन्त आहार करनेसे इन्द्रियाँ बलवती हो जाती हैं जिससे ज्ञानका नाश होता है और तब वह व्यक्ति वासना-तृप्तिकी इच्छा करने लगता है और उसकी निद्रा बढ़ जाती है तथा काल उसे ढक लेता है। फिर ऐसा पुरुष हमेशा उलझनमें पड़ा रहता है।

गोरख प्रत्येक शरीरमें अपना उपदेश कर रहे हैं, अनाहत नाद हो रहा है। परंतु इसका लाभ तो वे ही उठा सकते हैं जिन्होंने अपनी कायाको सिद्ध कर लिया है। गोरख शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है—जो ब्रह्ममें लीन आत्मा होनेके कारण स्वयं ब्रह्म है, जो प्रत्येक व्यक्तिकी शरीररूपी क्यारीको जोतता-बोता है, यानी प्रत्येकके हृदयमें परमात्मा बीजरूपसे मौजूद है, विद्यमान है, परंतु गोरखकी ब्रह्मकी वही क्यारी है, जिसमें कुछ उपज हो। कहनेका तात्पर्य यह है कि गोरख हरेक शरीरमें अपना उपदेश कर रहे हैं। लाभ वे ही उठा सकते हैं जिन्होंने कायाको सिद्ध कर लिया है।

हे अवधूत! शरीरको वश करनेके बाहरी उपायोंसे योग-सिद्धि नहीं होती, कारण कि खड़ाऊँ पहननेवाला चलनेमें फिसल जाता है, लोहेकी साँकलोंसे जकड़नेसे शरीर नष्ट हो जाता है। जो नागा है, मौनी है तथा दूधाधारी है इतनोंको योग लाभ नहीं होता। जैसा कहा है—

नागा मूनी दूधाधारी एता जोग न पाया।

इसका कारण यह बताया है कि—

दूधाधारी पर घरि चित, नागा लकड़ी चाहै नित।
मोनी करै म्यंत्रकी आस, बिन गुर गुदड़ी नहीं बे सास।
अवधू नव घाटी रोकि लै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटै अविचल विध, छाया बिबर जित निपजै सिध।
अवधू दंम कौ गहिबा, उनमनि रहिबा, ज्यूं बाजबा अनहद तूरं
गगन मंडलमें तेज चमक्कै चंद नहीं तहाँ सूरं॥

योगीको इस प्रकार रहना चाहिये। उसे उन्मनावस्थामें लीन रहना चाहिये। झरनेपर पानी (अमृत) पीना चाहिये। गुरुके मुखसे ज्ञानोपदेश सुननेके लिये लंका क्या परलंका जाना चाहिये अर्थात् माया (लंका राक्षसोंकी मायाविनी नगरी) को छोड़कर उससे परे (पर लंका) हो जाना चाहिये। तभी गुरुका दिया ज्ञानोपदेश हृदयंगम हो सकता है और तब फिर वह वास्तविक योगी हो सकता है। गुरु-महिमामें परमहंस अनन्त श्रीभोपाजी महाराजकी प्रार्थना है (जाग्रत् जीवनसे)

गुरु मध्य आदि अनन्त अद्भुत अमल अगम अगोचरम्।
विभु विरज पार अपार निर्गुण सगुण सत विश्वेश्वरम्॥
जिहि मति लखै नहिं तेहि लखै सो शुद्ध तत्व विचार है।
जो चरण कमलकी ओर आया भवसे बेड़ा पार है॥
गुरु विष्णु मूरत शिवकी सूरत गुरु वही ब्रह्मा जान तू।
गुरु ब्रह्म है पर ब्रह्म है यह सोच समझके मान तू॥
कर गुरुकी संगत रात दिन नर जन्म अपना सुधार ले।
दे फेंक माया बोझ सिरसे यमका शीश न मार ले॥

वेदोंका अद्यतन पाठ ही 'मूल' है

(लेखक—श्रीतिलकधारीजी पाण्डेय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

आज भी हमारी वैदिकधार्मिकता तथा सांस्कृतिक सभ्यताका स्रोत वेदोंके आधारपर ही किसी-न-किसी रूपमें सतत प्रवाहित होता चला आ रहा है। यद्यपि आज उनके बहुत-से अंश लुप्त हो गये हैं तथापि अवशिष्ट अंशोंसे ही हम उनकी पाठ-प्राचीनताका अङ्कन भली-भाँति कर सकते हैं। कहना न होगा कि आज भी उनका स्वरूप हमें उसी रूपमें दृष्टिगोचर हो रहा है जिस रूपमें आजसे कई सहस्र वर्ष पहले विद्यमान था। यह गौरव तो केवल वैदिक-साहित्यको ही देना समीचीन जान पड़ता है, लौकिकको नहीं। कारण, उसमें तो बहुत कुछ परिवर्तन और यत्र-तत्र क्या प्रायः सर्वत्र ही पाठभेदकी भरमार दिखायी देती है। पर वेदोंके विषयमें हम ऐसा नहीं कह सकते। सम्भवतः इसके मुख्यतम कई एक कारण हैं। सर्वप्रथम यदि इनके उदात्तादि त्रिविध स्वरोंपर विचार किया जाय तो यही जान पड़ेगा कि उनके उसी प्राथमिक मूल रूपकी अभिरक्षाके लिये इन स्वरोंकी कल्पना की गयी जिससे उन मन्त्रोंके अर्थमें किसी प्रकारका विकार न आ सके। स्वरोंसे ही तो उनके अर्थ सीमाबद्ध रहते हैं। अन्यथा लोगोंकी कल्पना-शक्तिका संचार वहाँ भी जैसे-तैसे दिखायी ही दे जाता और संहिता-पाठका स्वरूप भी आज कुछ और ही होता। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण लौकिक-साहित्यमें देखा जा सकता है जिसके कि आज अनेकों रूप प्रचलित हैं। वेदोंकी इसी प्राचीनताके रक्षार्थ इन उदात्तादि स्वरोंकी अनिवार्यताका यही रहस्य है। नहीं तो, इनमें इन स्वरोंकी कल्पनाका रहस्य ही क्या! कुछ समझकर ही तो कभी महर्षि पाणिनिने अपनी 'शिक्षा' में—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥५२

—की ओर संकेत किया था। जो हो, तत्प्रयुक्त अपराधका फल तो इन्द्रशत्रु 'वृत्र' को प्रत्यक्ष ही मिला था न! फिर इनकी महत्तामें किसी प्रकारका संदेह कैसा! देखिये न उसी शिक्षामें महर्षि पाणिनि इन स्वरोंके महत्त्वके बारेमें क्या कह रहे हैं—

हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति॥५४॥
हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम्।
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते॥५५॥

निदान इन्हीं स्वरोंसे परितः आबद्धकर मन्त्रोंकी अनर्थ-परम्परा रोकी गयी और सदाके लिये उनके एक रूपकी सत्ता निर्धारित की गयी, परिणामस्वरूप उनके पाठ आजके इस अभिनव युगमें भी अपने उसी प्राचीनतम मौलिक रूपके अस्तित्वका साक्ष्य देते हुए यथास्थान सुरक्षित हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरा कारण 'षडङ्गों' की रचना है। इन षडङ्गोंने भी वेदोंके 'उपबृंहण' में बहुत कुछ प्रकाश डाला है। कारण यह कि अङ्गज्ञानके बिना 'अङ्गी' को भलीभाँति हृदयंगम कर लेना कुछ सरल नहीं। तो उस प्रसंगमें इनके साथ ही उनके (वेदोंके) अर्थानुशीलनपर भी थोड़ा विचार कर लेना है। यों तो वेदार्थानुशीलनके कई एक प्रकार हैं। किंतु सम्प्रति उसके मुख्य दो प्रकार माने जाते हैं—एक प्राचीन परम्परागत और द्वितीय अर्वाचीन परम्परागत। अर्वाचीन परम्परासे वेदार्थ-परिशीलनमें नवीन दृष्टिकोणद्वारा बाहरी साहित्यकी अत्यधिक अपेक्षा होती है। बिना उसके उसका परितः अध्ययन-आलोडन सम्भव नहीं। अब रही प्राचीन परम्पराकी बात। सो उसमें भारतीय परम्पराके आधारपर ही प्राचीनताकी दृष्टिसे उनका अनुशीलन प्रायः देखा जाता है, और इस दृष्टिकोणसे षडङ्गोंका अध्ययन वेदके उपबृंहणके लिये आवश्यक ही नहीं, प्रत्युत अनिवार्य भी है। कारण, इन्हींके द्वारा तो उनकी दुरूहता दूर होती है और उनका प्रत्यक्ष बोध होता है तथा इसी बोधके साथ 'साङ्ग' वेदका अध्येता ब्रह्मलोकमें पूजित होता है—

तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥४२॥

तो उनके अङ्ग भी ये हैं—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥४१॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

(पाणिनीयशिक्षा)

अब यदि स्पष्टरूपसे यह कहा जाय कि वेदोंकी पूर्वरूपताकी रक्षाके हेतु ही इन षडङ्गोंका निर्माण हुआ है तो सम्भवतः अतिशयोक्ति भी न होगी। कारण भी प्रकट है। चतुर्वेदोंके साथ ही तो छन्द, कल्प, ज्योतिष्, निरुक्त, शिक्षा और व्याकरणकी गणना 'अपरा' विद्यामें की गयी

और उपनिषदोंकी 'परा' विद्यामें । वेदभाष्यकर्ता आचार्य सायणने 'ऋग्वेद' की निजी 'भाष्यभूमिका'में 'मुण्डकोपनिषद्' का अवतरण देते हुए स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है—

अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि । अत एव तेषामपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषदि आथर्वणिका आमनन्ति "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते" (मुण्ड० १ । १ । ४) इति । साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां कर्मकाण्डानामपरविद्यात्वम् । परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वादुपनिषदां परविद्यात्वम् ।

(वेदभाष्यभूमिका-संग्रह, प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस सिटी, पृष्ठ ४९)

जो कुछ हो यहाँ हमें 'अपरा' और 'परा' का विवेचन इष्ट नहीं; इष्ट तो है वेदोंका वर्तमान पाठ । शिक्षा-कल्प आदिकी प्रयोजनसिद्धिके साथ ही 'व्याकरण'के प्रयोजनके लिये स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है—'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाप्रयोजनम्' बस, इन्हीं प्रयोजनोंके उद्देश्यसे 'व्याकरण' को 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' का गौरव पद प्राप्त हुआ, होता भी क्यों नहीं । वाणीकी शोभा भी तो व्याकरणसे ही होती है न ? 'वाणी व्याकरणेन' फिर तो इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि यही व्याकरण आज महर्षि पाणिनि आदिके द्वारा परिष्कृत रूपमें हमें पढ़नेको मिला है । अस्तु ।

निरुक्तकार यास्क, महर्षि शाकल्य एवं आचार्यप्रवर गार्ग्य आदि प्राचीन भाष्यकारोंके समयसे लेकर महर्षि पाणिनिके समयतक इन वेदोंका जो रूप स्थिर रहा वही रूप आज भी अक्षिगोचर हो रहा है । पाणिनिके कतिपय सूत्रों—'तेन प्रोक्तम्, ४ । ३ । १०१ । प्रोक्ताल्लुक् । ४ । २ । ६४ ॥' आदिमें वेद-मन्त्रोंके उसी प्राचीन रूपकी झलक किसी-न-किसी रूपमें दिखायी देती है । उन्होंने जहाँ कहीं भी 'प्रोक्तम्' 'प्रोक्तात्' आदिका प्रयोग किया है सर्वत्र उससे उनका कुछ-न-कुछ आभास अवश्य मिल जाता है । कारण यह कि व्याख्याकारोंने भी स्फुट शब्दोंमें 'प्रोक्ते-वेदे' का ही उल्लेख किया है । इतना कुछ कहनेका एकमात्र अभिप्राय यह कि वेदोंका अद्यतन पाठ ही उनका प्राक्तन मूल पाठ है । मन्त्रब्राह्मणात्मक ही तो उनका प्रधान स्वरूप ठहरा । फिर उनके पाठोंकी प्राचीनतामें किसीको संदेह क्यों !

कुछ भी हो, इस तरह इन षडङ्गोंकी सहायतासे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि उनकी (षडङ्गोंकी) रचनाका रहस्य मुख्यरूपसे वेदोंकी मूल-पाठपद्धतिको तदनुरूपता प्रदान करना ही है । इस दृष्टिसे 'पुराण' तथा 'इतिहास' को भी इसी कोटिमें स्थान दिया जा सकता है; क्योंकि ये भी वेदार्थको सर्वातिशयेन उपबृंहित करते हैं—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

हाँ, तो कुछ और ध्यान देनेसे इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि कालान्तरमें जो वेदमन्त्रोंको पदपाठ, घनपाठ, जटापाठ, शिखापाठ आदि अष्ट विकृति-पाठोंमें परिवर्तित किया गया है उसका भी एकमात्र उद्देश्य यही है । इस प्रकार बहुविध उपायोंद्वारा वेदमन्त्रोंका स्वरूप परितः सुव्यवस्थित किया गया और सर्वतः पाठभेदसे बचाया गया ।

प्रसंगतः इतना और भी जान लें कि महर्षि जैमिनिके निर्धारित 'वेदत्रयी'के रूप भी आज हमें उसी पूर्व रूपमें दिखायी दे रहे हैं, जिस रूपमें कभी उन्होंने इसका स्वरूप अपने सूत्रोंमें निश्चित किया था । उनकी दृष्टिमें ऋक्, साम तथा यजुर्वेदका स्थिर रूप क्रमशः यह है—

(१) तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । (जै० २ । १ । ३५)

(२) गीतिषु सामाख्या । (जै० २ । १ । ३६)

(३) शेषे यजुः शब्दः । (जै० २ । १ । ३७)

स्वरोंके बारेमें जैसा कि पहले कहा गया है—उनका सीधा सम्बन्ध केवल 'वेद' से है, 'काव्य'से नहीं, तभी तो काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मटने भी—

'इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेदे एव न काव्ये स्वरोविशेषप्रतीतिकृत् ।'

—का उद्घोष करते हुए—'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते ।'

—का उल्लेख किया । इस तरह भी इन स्वरोंको 'वेद' की यथामूल सत्ताका हेतु कहा जा सकता है । भाव यह कि वेदोंमें हमें कहीं भी किसी प्रकारका कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता ।

अब रही इन चतुर्वेदोंमें प्राथमिकता आदिकी बात, सो इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि इनमें प्रथम स्थान है 'ऋग्वेद' का और चतुर्थ है 'अथर्ववेद' का । अन्तरालवर्ती

वेदोंमें द्वितीय स्थान है 'सामवेद' का और तृतीय है 'यजुर्वेद' का । जैसा कि पुरुषसूक्तके इस 'मन्त्र' से स्पष्ट है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥

केवल यही नहीं, महत्ताकी दृष्टिसे भी 'ऋग्वेद'को सबसे ऊँचा स्थान मिला है और है भी वह सबसे प्राचीन और विपुलकाय ही। इसमें अनेक वैदिक देवताओंकी मनोरम कल्पना की गयी है। देवताओंकी स्तुति ही तो वेदग्रन्थोंका प्रधान विषय रहा है। कहा जाता है कि 'ऋग्वेद' का द्वितीय मण्डलसे अष्टम मण्डलतकका भाग बहुत पुराना है और इसके ऋषि भी क्रमशः नियत हैं। इन ऋषियोंके नाम क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ और कण्व हैं। इन्हें मन्त्रोंका द्रष्टा कहा गया है, रचयिता नहीं। प्रथम, नवम तथा दशम मण्डलमें इससे कुछ भिन्नता है। ऋग्वेदमें ऐसी अनेक आख्यान-संहिताएँ हैं, जिन्हें हम पौराणिक आख्यायिकाओंका मूल रूप कह सकते हैं।

इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टका निवारण ही इन वेदोंका सर्वस्व है और इसी नाते इन्हें 'मित्र'का रूप दिया गया है। तभी तो इसके समक्ष आजतक विश्वका कोई भी साहित्य टिक न सका। जो कुछ भी हो। निरुक्तकार यास्कने देवताओंको स्थानभेदसे तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है—(१) द्युस्थान (२) अन्तरिक्षस्थान तथा (३) पृथ्वीस्थान। द्युलोकस्थानीय देवताओंमें वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषन्, उषस् और अश्विनी मुख्यरूपसे आते हैं। अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंमें इन्द्र, अपात, नपात, रुद्र, मरुद्, वायु आदि प्रधान माने गये हैं। अब रहे पृथ्वीस्थानीय देवता, तो इनमें अग्नि और सोमका स्थान सबसे ऊँचा है। 'वेद'के अध्ययनसे ही इनका वास्तविक रहस्य खुलता है। इनके अतिरिक्त बृहस्पति देवताकी कल्पना भी सबसे निराली ही है।

यद्यपि आज समय बदला, लोग बदले, फिर भी वेदोंका स्वरूप वही रहा जो पहले था। इन वेदोंकी रचना तथा पौरुषेयता एवं अपौरुषेयताको लेकर भी कम वाद-प्रतिवाद विद्वानोंमें नहीं हुआ। किसीने ई० पूर्व १००० वर्ष इसे रचनाकी अवधि माना तो किसीने २००० वर्ष पूर्व। किंतु लोकमान्य तिलकने गणितके आधारपर ऋग्वेदकी सत्ता ई० पूर्व० ६००० वर्षसे भी पुरानी ठहराया और अब तो एक प्रकारसे यही मत सर्वमान्य भी समझा जा रहा है।

कहनेको चाहे जो भी कहा जाय पर इतना तो ध्रुव सत्य है कि वेदोंका काल अनादि है—

यस्य निःश्वसितं वेदाः।

साथ ही इतना और भी निवेदन है कि इसीके साथ ही इनकी पौरुषेयता एवं अपौरुषेयताका वाद भी अपने-आप मिट जाता है।

अच्छा, तो वेदानुशीलनके लिये इतिहास-पुराणकी आवश्यकताका यत्किंचित् निर्देश ऊपर किया जा चुका है और लोग इस बातसे भी प्रायः परिचित हैं कि 'इतिहास-पुराण'को 'पञ्चम वेद' के नामसे भी पुकारा जाता है। 'छान्दोग्य' उपनिषद्का आप ही स्पष्ट कथन है—

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः। (७।१)

तो फिर इससे तो इतना और भी भलीभाँति स्फुट हो जाता है कि उस वैदिक युगमें भी पुराणेतिहासके अध्ययन-की परम्परा थी। देखिये तो सही। इसी उपनिषद्में वहींपर सनत्कुमारजीसे नारदजीका स्पष्ट निर्देश है—

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाको वाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह अध्ययनकी परम्परा 'बहुश्रुत' रूपमें ही उस समय प्रचलित थी, अल्पश्रुत रूपमें नहीं। कारण 'अल्पश्रुत' से वेद भी तो सदा डरता है—

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति।
(म० भा० १।१।२६७)

निदान उनके परिशीलन और परिरक्षणमें बहुश्रुतत्व अपेक्षित है। बस, अबतक जो कुछ कहा गया है, उसका एकमात्र तात्पर्य यही है कि इन्हीं सब विपुल साधनोंके द्वारा वेदग्रन्थोंमें किसी प्रकारकी विश्रृङ्खलता न आने पायी और पाठभेदसे बचाकर सदाके लिये उनकी एकरूपता सुस्थिर की गयी। अन्यथा क्या होता इसे कौन कहे?

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

मन और शरीरकी अजीबोगरीब अवस्थामें हम इस मार्गकी यह अन्तिम घाटी पारकर जब भैरों घाटी पहुँचे तो ऐसा जान पड़ा मानो हमने एवरेस्ट विजय कर ली हो। हमारे डाजीने यहाँ हमारे निवासकी व्यवस्था चट्टीकी एक धर्मशालामें की थी। जैसे ही धर्मशालाका नाम हमारे सामने आया, हमारा मन गिर गया। बेवश मनसे इस धर्मशालाके उस कमरेमें, जो हमारे लिये पंडाजीने बड़ी मुश्किलसे सुरक्षित कराया था, घुसे, अपना सामान रक्खा और थोड़ी देर हाथ-पैर फैला कुछ थकान मिटायी। मार्गकी चढ़ाईके कारण हमारे भारवाहक आज काफी देरसे सामान लेकर पहुँचे। जब सामान आ गया, तब नहानेकी सूझी और साधनकी तलाश की। पर यहाँ यह एक बड़ी विडम्बना हुई कि जहाँ निकट ही वरुणदेवका जीवन धारण किये भागीरथी बह रही हों, वहाँ पानी नहीं था। कहने और सुननेमें बात बड़ी विचित्र थी। 'भरे समुन्दर घोंघा प्यासा' तथा 'कुआँ पास और फिर भी प्यासा' वाली कहावत हमलोगोंके लिये चरितार्थ हो रही थी। इसका कारण था। भागीरथी अत्यन्त निकट बह रही थीं, उनके नादसे हमारे कान पवित्र थे, किंतु उनकी इस निकटतामें जो अन्तर और गहराई थी वह एक ऐसे कुएँके सदृश थी जिसमें रस्सी थी नहींवाली बात नहीं वरं न रस्सी डाली जा सकती थी और न किसी प्रकार नीचे ही उतरा जा सकता था। दो अत्यन्त ऊँची उपत्यकाओंके मध्यमें एक भयानक खंदक-की तहमें भागीरथी बह रही थीं जिन्हें हम देख रहे थे, उनके रवको सुन रहे थे, पर उनका सामीप्य हमारे लिये दुर्लभ था। हमलोग बड़ी मुश्किलमें पड़े। मालूम हुआ चट्टीसे कुछ दूरपर लकड़ीकी नालीसे एक झरनेको बहाया गया है। हमलोग जब यहाँ पहुँचे तो देखा, बड़े ही सूक्ष्मरूपमें इस लकड़ीकी नालीसे थोड़ा-थोड़ा पानी छल-छल बह रहा है। हमलोग बारह आदमी थे, यदि हमारे दलको ही बारी-बारी नहाने दिया जाय तो मुश्किलसे दो घंटेमें सब निबट पाते, फिर यहाँ तो यात्रियोंका आलम पड़ा था। एक नहा रहा है, दूसरा बीचमें ही अपना लोटा अड़ा देता। कभी-कभी कोई चालाकीसे उस स्थानसे, जहाँ यह लकड़ीकी नाली समाप्त होकर नलके रूपमें खुली हुई थी कुछ दूर और आगे जाकर बीचहीमें पानी लेने लगता, जिससे यहाँ पानी आना बिल्कुल बंद हो जाता और लोगोंमें बड़ी घबराहट मच जाती, जब कोई आगे दौड़ता और उसे मना करता जो बीचहीमें पानी ले रहा था, तब फिर यहाँ लोगोंका निस्तार शुरू होता। एक बार तो बहुत दूर किसी मवेशी या वन-जन्तुने लकड़ीकी इस नालीके एक खण्डको ही दूसरेसे पृथक् कर दिया और इस खण्डके अलग होते ही जब यहाँ पानी आना बंद हुआ तो लोग घबराये और यह देखने कि, कहाँ किसने गड़बड़ की, जब कुछ लोग आगे गये तो बहुत दूरपर पहाड़की ऊँचाईपर देखा नाली खण्डित थी और सारा पानी जमीनमें बह रहा था। इस तरह बड़ी विकट स्थितिका हमें यहाँ सामना करना पड़ा। इसी नालीके समीप मैदानमें हमने अपने भोजनोंकी व्यवस्था की और नपे-तुले नापमें इस अनमोल जलका यहाँ उपयोग कर हमने जीवन और जलके इस सम्बन्धको निभाया।

कुछ देरके लिये यहाँसे हम पहाड़की दो चोटियोंको जोड़नेवाले उस पुलको देखने गये, जिसे हमने भैरोंघाटीकी अन्तिम चढ़ाईके पूर्व देखा था। यह स्थान भैरोंघाटीसे निकट ही है। हमने देखा दो ऊँचे शिखरोंपर यह पुल पड़ा है। जैसा कि हमने भैरोंघाटीके नीचेसे देखा था। इस पुलके सम्बन्धमें लोगोंसे चर्चा करनेपर मालूम हुआ कि बहुत वर्षों पूर्व जब वर्तमान मार्ग नहीं था, तब गंगोत्तरी-मार्गके यात्रियों-को इससे भी कठिन और दुर्गम मार्ग पारकर यह भयंकर पुल पार करना पड़ता था। कहते हैं यह पुल कभी-कभी वायुके वेगके कारण उलट भी जाता था। कभी-कभी घंटों हवा चलती और इस पुलको पार करनेवाले यात्रियोंको इस स्थितिका सामना करना पड़ता तथा घंटों रुककर जब हवा स्थिर हो जाती, तब वे पुल पार करते। अनेक बार तो यात्री भी इस पुलको पार करते दुनियासे पार हो जाते थे। आज जब कि अभी भी मार्ग अत्यन्त कठिन है, जब हम इस तरहके मार्गों और पुलोंको हमारे पूर्वजोंने पारकर इन धामों-की यात्रा की है, यह देखते हैं तो उनके धैर्य, साहस और उस महान् आस्तिकतापर हमें आश्चर्य होता है। दिलको

हिला देनेवाली मनको कँपा देनेवाली उनकी ये यात्राएँ सचमुच ही आश्चर्यजनक थीं। वे मानव होते हुए भी वास्तवमें देव ही थे।

हमलोगोंने भोजनोपरान्त विश्राम किया। आज हमारा रात्रि-विश्राम यहीं था। सुक्कीके सदृश भैरोंघाटीकी ऊँचाई भी ८७०० फुट ही थी। ऊँचाईके कारण शीत बढ़ गया था किंतु सहनीय, मौसम साफ था। गंगोत्तरी-मार्गमें अभीतक हम केवल एक जगह अपने मुकामकी प्रथम चट्टी सिंगोटकी सार्वजनिक धर्मशालामें ठहरे थे। यमुनोत्तरीके सदृश ही चट्टियोंकी धर्मशालाकी दुर्दशा और उनके आस-पासकी गंदगीका जो हाल हमने यहाँ देखा, उसके सम्बन्धमें अपने सिंगोट मुकामपर चर्चा की है। इसके बाद हम सौभाग्यसे या तो वनविभागके विश्रामालय अथवा प्राथमिक पाठशालाओंमें ठहरे। अतएव सारे मार्गमें यात्रियोंकी भीड़-भाड़ और चट्टियोंके दृश्य देखते चलनेपर भी अनुभवकी दृष्टिसे उनसे काफी दूर रहे और बहुत दूरतक चट्टियोंके अपने मुकामोंकी तकलीफोंको भी भूल गये थे। किंतु, आज भैरोंघाटीमें चट्टीकी इस धर्मशालामें पैर पड़ते ही हमें फिर चट्टी-महिमा याद आ गयी और न केवल याद ही आयी, वरं हमारी यमुनोत्तरी-यात्राकी उन सारी घटनाओंकी यहाँ भी पुनरावृत्ति होने लगी जो हमारे चट्टी मुकामोंपर हुई थी। हमलोग इस धर्मशालाके ऊपरके भागमें ठहरे हुए थे। असावधानीवश या कहिये इस धर्मशालाकी कृपासे हमारे कमरेसे कुछ शीतल जल चूकर नीचे गिर गया। कमरेमें पटियोंका पटाव था। मौसम रातका फिर कुछ ठंडा। नीचे यात्री पड़े थे। ज्यों ही ऊपरसे चू रहे इस शीतल जलने उनके बिस्तरोंको तर करते हुए उन्हें ठंडक पहुँचायी, वे गरम हो उठे और तड़पते हुए ऊपर आकर लगे आग बरसाने। किसी तरह समझा-बुझाकर उन्हें फिर गीले बिस्तरोंमें सुलाया। दूसरी घटना एक और घटी। हमारे कमरेमें एक लकड़ीका पटवा था, जो केवल बाहरकी दालानसे कुछ खुला था, सीढ़ी या कोई रास्ता आदि कतई नहीं था। हमलोग अपने कमरेमें सो गये और जब करीब एक घंटा नींद भी ले चुके, यकायक ऊपर इस पटवापर कुछ खड़बड़ाहट और बादमें आदमियोंकी आवाज आयी। एक क्षणके लिये हमलोग कुछ परेशान हुए, ऊपर यह क्या? आदमी कहाँसे आये। पर ज्यों ही हमने गोविन्दप्रसादको बुलाया और जब उन्होंने देखा तो मालूम हुआ ऊपर लगभग ५० आदमी पड़े हैं। हमारे मना करनेपर माने नहीं, रातभर पटवापर पड़े हलकम्प मचाते रहे और हमारी नींद हराम करते रहे। इधर कमरेके सामने दरवाजेसे लगा हुआ सारी दालानपर नर-समूह पड़ा था। 'तिल रखनेको जगह नहीं' वाली बात थी। इनमेंसे एक तो रातभर बड़े जोर-जोरसे कुछ गाता रहा। समझमें न आया किस भक्ति-प्रवाहमें यह बह रहा था। रात संकटमें जा रही थी। फिर ९ जूनको उस शुभ भोरकी भी हमें प्रतीक्षा थी जो हमारी यात्राका एक प्रमुख घटक, एक ग्रह और एक शुभ नक्षत्र बना, हमें इतने दिनोंसे अपनी प्रतीक्षामें पग-पग बढ़ाये ला रहा था। अतः प्रभातकी प्रतीक्षामें पड़े-पड़े ज्योंही गोविन्ददासकी घड़ीने तीन बजाये, हमलोगोंने बिस्तर छोड़ दिये। बिस्तर बाँधे, लकड़ीवाली नालीसे संचित जलसे जो रातमें ही एक बाल्टी रख लिया था, नित्यकर्मसे फारिग होकर कुल्ले किये। आज मुँह धोने लायक भी पानी नहीं था। और पौ फटते-फटते 'जय गंगोत्तरी' बोल निकल पड़े।

यमुनोत्तरी मार्गकी गंगानी चट्टी छोड़ते हुए गंगोत्तरीकी अपनी लगभग ७५ मीलकी जिस यात्राका हमने संकल्प किया था, अब उसकी दूरी कुछ ही घंटोंकी थी। गत आठ दिनोंसे लगातार चलकर अबतक ६८ मीलकी हम यात्रा कर चुके थे। थका देनेवाला लंबा, बीहड़ और संकीर्ण दुर्गम मार्ग हम आजतक जिस आशा और उत्साहसे पार करते आये थे वह आशा और उत्साह आज हममें एकबारगी फिर अपनी पूरी ताकतसे उभर आया था। हमारे मन एकाग्र थे, पग संयत थे और पथ भी हमें आगे बढ़नेके लिये प्रेरित कर रहा था। फिर भी, अपने संकल्पकी सफलता और लक्ष्यकी पूर्तिकी यह अन्तिम मंजिल जो केवल साढ़े छः मीलकी थी, मुश्किलसे केवल चार घंटेकी कितनी लंबी और कितने अधिक समय लेनेवाली लगी। पीछेकी अपनी यात्रामें हमने एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचनेमें नौ-नौ मीलकी चलाई की थी और मार्गजन्य आपदाओंके कारण अनेक बार हम ऊबे थे। जब हम ऊबते, हमारा मन खिन्न होता, प्राकृतिक जगत् हमें लुभाता, भागीरथी हमारा साथ देतीं और इन दो दिव्य शक्तियोंके सहारे हम आगे बढ़ते रहते। किंतु, आजकी स्थिति भिन्न थी। मार्ग भी यद्यपि कोई साफ नहीं था और था सीधा। सदैवकी तरह चढ़ाईवाला। भैरोंघाटीसे हमें लगभग १६०० सौ फुट आज फिर ऊपर चढ़ना था, काफी चढ़ाई थी, किंतु इन सब विपरीत

परिस्थितियोंमें भी न हमें आज मार्गका बोध था, न उसकी चढ़ाईका। केवल एक भावनामें, मनकी एक तन्मयतामें हम चल रहे थे। आज हमारी भावना थी केवल गंगोत्तरी, इसीमें हम तन्मय थे और इसी तन्मय अवस्थामें हमारे पग बढ़ रहे थे। आज भान हुआ, मनकी अवस्थाका बाह्य जगत्से उसके वातावरणसे कैसा सम्बन्ध है। यदि मन स्वस्थ नहीं है तो अनुकूल परिस्थितियाँ और सुन्दर-से-सुन्दर वातावरण भी हमें फीका और कड़ुआ दीखता है। किंतु जब मन स्वस्थ हो तो वह विपरीत परिस्थितियोंका भी दृढ़तासे मुकाबला करनेमें समर्थ होता है जैसा कि हमने अपनी पिछली यात्रामें अनुभव किया है और जब मनके साथ परिस्थितियाँ भी अनकूल हों, वातावरण भी सुन्दर हो तो आनन्दका ठिकाना नहीं रहता, फिर वह एक उल्लासकी सतहपर कार्य करता है। हमारे मनकी आज यही स्थिति थी। अपने गन्तव्यके सामीप्यसे, लक्ष्यकी निकटताके सुखसे पुलकित हमारा मन एक उल्लासकी सतहपर चल रहा था और इसीलिये हमें न मार्गकी दुर्गमताका बोध होता और न चढ़ाईका। एक ओर भागीरथीका भव्य प्रवाह लुभाता, आस-पास प्राकृतिक जगत् रिझाता और सामने अपने गन्तव्यका आकर्षण हमें खींचता। चारों ओर आकर्षण और प्रत्याकर्षणका ऐसा सुन्दर समा बँधा कि एक पावन प्रेमीके सदृश पग-पग पाँव बढ़ाते हम व्याकुल भावसे बढ़े जा रहे थे और ज्यों ही गंगोत्तरी पहुँचे तो गंगोत्तरीदर्शनके साथ ही हमें जान पड़ा जैसे पलक मारते हम यहाँ आ पहुँचे। गंगोत्तरीकी श्रमहारी छटा हमारे नेत्रोंमें समा गयी और हम सब जय गंगोत्तरी बोल उठे।

९ जूनके शुभ प्रातःकालमें ठीक ९ बजे सुरसरिकी इस पावन पुरीमें हमने प्रवेश किया। हमारे पंडा श्रीचेतरामजीने निवास आदिकी व्यवस्था यहाँ एक अच्छे स्थानपर की थी। साफ सुन्दर दुमंजिले मकानके ऊपरी भागमें हमने अपना सामान रक्खा और झटपट सुरसरि-तीर पहुँचे। आचमन किया और रवि-रश्मियोंकी आभामें भक्तिमयी भागीरथीके दिव्य रूप-छटा-माधुर्यका रसपान करने लगे। एक अद्भुत उत्साह और कैसी प्रतीक्षासे पहुँचे थे आज हम इस रम्य पावन तटपर। लगता मानो हमने आज अपनी सुकृत-संचित पूँजी भर पायी। दर्शन-प्यासे लालची लोचन आज दर्शन करते नहीं अघाते, कभी सुरसरिकी थिरकती धाराको देखते, कभी उनके चतुर्दिक् छायी शिखरावलीकी रूपसुधा पान करते और कभी स्वयं निर्झर बन अमृत बरसाते। बड़ी देर-तक इस स्थितिमें बैठे रहे। जब हमारे पंडाजीने हमें आकर स्नानोंके लिये कहा, तब हमने अपने कपड़े और दान-पूजनादिकी सामग्री लाने अपने साथियोंको खबर भेज दी।

यमुनोत्तरीके सदृश गंगोत्तरी भी गङ्गाका उद्गमस्थान नहीं है। गंगोत्तरीसे अठारह मील आगे जो 'गो-मुख' नामसे एक स्थान और प्रसिद्ध है, परंतु यह भी गङ्गाका उद्गम स्थान नहीं है। जिस प्रकार यमुनाके उद्गमस्थानका ठीक पता नहीं, उसी प्रकार गङ्गाका भी उद्गमस्थान अज्ञात है। हाँ, यमुना हिमालयकी एक हिमानी पंक्तिसे निकलती हैं, और गङ्गा हिमालयकी दूसरी हिमानी पंक्तिसे, इतना निश्चित है। धीरे-धीरे दोनों ही नदियोंका स्पष्ट रूप बनने लगता है। परंतु यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि इन नदियोंका कोई उद्गमस्थान है ही नहीं; क्योंकि जलप्रपात तो अगणित दिखायी देते हैं, किंतु इन जलप्रपातोंका जल मिलकर यमुना और गङ्गाका रूप धारण नहीं करता। यह हम स्वयं देखते भी आये हैं। मार्गमें अगणित जलप्रपातों—निर्झरोंका नीर मिलनेपर भी भागीरथीके बहाव-विस्तारमें कोई फर्क हमने नहीं देखा। हाँ, उसे आसमुद्रगति देनेमें ये उसके सहायक और पूरक अवश्य बनते हैं। अतएव दोनों नदियोंके मूल उद्गमस्थानतक चाहे कोई न जा पाया हो, परंतु इनका मूल उद्गमस्थानका होना निश्चित है और ये उद्गमस्थल अगम्य होनेके कारण ही आजतक अज्ञात हैं। अभी भी यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी पहुँचनेका मार्ग अत्यन्त कठिन है। जिस समय इन स्थलोंको इन सरिताओंका उद्गमस्थान माना गया होगा उस समय इन स्थलोंतक पहुँचना और भी कठिन होगा। अतः जहाँतक पहुँच हो सकी, वही स्थल इन नदियोंका उद्गमस्थान मान लिया गया। हमें यही मानना चाहिये। फिर यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी शब्द भी ये स्थल यमुना और गङ्गाके उद्गम हैं, इसका संकेत नहीं करते। यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी शब्दोंका अर्थ उत्तरकी यमुना और उत्तरकी गङ्गा अथवा चूँकि हमारे ऋषि-मुनियोंने जहाँ यमुना उतरीं यह पाया वहाँ यमुनोत्तरी और जहाँ गङ्गा उतरीं वहाँ गंगोत्तरी मानकर ये नामकरण किये। एक बार यह माना जानेपर इसमें अभीतक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, भविष्यमें क्या होगा, यह आज कहना कठिन है। भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान संस्कृति है और धार्मिक दृष्टिसे इन दोनों नदियोंका हमारे देशमें सर्वोपरि स्थान है। इसलिये ये स्थान इन दोनों नदियोंका मूल उद्गम न होते हुए भी

उद्गमस्थान माने जानेके कारण भारतीयोंके महानतम तीर्थ बन गये हैं।

गंगोत्तरी गङ्गाका उद्गमस्थान न होते हुए भी यमुनोत्तरीके सदृश इस क्षेत्रका हमारा अन्तिम पड़ाव था। अतः सभी साथियोंके हृदय आनन्दविभोर थे। अब हमलोग सब स्नानोंको एकत्र हुए, सभीके वस्त्र और दान-पूजनादिका सामान भी आ गया। गङ्गाका यह घाट जहाँ सब लोग स्नान करते हैं, पुरीके पूर्वीभागपर स्थित है। भागीरथीका यहाँ प्रवाह काफी तेज है, पीछेकी ओर गंगोत्तरीके हिमानी शिखरोंकी एक शृंगावली है और उसके दोनों ओर देवदार और भुज (भोजपत्रों) के वृक्षोंसे ढकी हुई हिमालयकी अन्य शिखरावली। घाटके निकट ही गङ्गाका एक छोटा-सा मन्दिर है।

स्नानकी तैयारी करते-करते मध्याह्नका समय आ गया। यमुनोत्तरीके सदृश यहाँ न तो वर्षा ही हो रही थी और न आकाश ही मेघाच्छन्न था, निर्मल नभमें ज्येष्ठमासके वृषराशिमें स्थित सहस्रांशु अपनी पूर्ण प्रभासे चमक रहे थे। परंतु, इतनेपर भी हमने जब गङ्गा-स्नान किया, तब गङ्गाका इतना शीतल जल था कि हमें उसका स्पर्श होते ही जान पड़ा मानो सारे शरीरका रक्त-प्रवाह जम गया है और हमारा शरीर एक सजीव पाषाणका हो गया है। प्राण कहीं अटके-से बोल रहे थे और शरीर सुन्न निर्जीव-सा देख उसमें अब अपना ठौर न पा मानो अब वे विकल भावसे निकल भागना चाहते हों, एकदम कण्ठसे आवाज निकली, कपड़े जल्दी दो। हमारे साथी कपड़े लिये खड़े ही थे, झटपट गरम-से-गरम कपड़े पहने। कुछ ऊपर तपते सूर्यने हमें तपाया, कुछ इन ऊनी गरम कपड़ोंने गरमी पहुँचायी। कुछ देर बाद जान पड़ा अंदर चेतन सजग हो गया है। गङ्गाके तीव्र प्रवाहके कारण हम प्रवाहमें घुसकर तो स्नान कर न सके और धाराके समीप हमने बाल्टियोंसे स्नान किया जैसा कि प्रायः सभी यात्री करते हैं। स्नानोपरान्त गङ्गा-पूजन हुआ और दान-संकल्पादि। सभीने गङ्गाजीकी आरती की। गोविन्ददासने प्रातःकाल और मध्याह्नका संध्यावन्दन किया जो वे दस वर्षकी अवस्थामें उपनयन होनेके बादसे करते आये हैं। संध्या-वन्दनके उपरान्त उन्होंने देव, ऋषि और पितृ-तर्पण किया। ये सभी कृत्य हमारे पंडा श्रीचेतरामजीने विधिवत् कराये। सभी लोगोंको बारी-बारी, गोविन्ददासको सपत्नीक जब ये धार्मिक कृत्य, पंडाजी उच्चकण्ठसे मन्त्रोच्चार करते कराते तो इस धार्मिक वायुमण्डलका दृश्य देखते ही बनता। हमने देखा, सभी यात्री भागीरथीके इस तटपर स्नान-पूजनमें मग्न हैं, कोई हर-हर गङ्गे कह रहा है, कोई जय गङ्गा मैया और जय गङ्गोत्तरी बोल रहा है, एक ओर बैठे कुछ लोग कागजों-पर रामनाम लिखकर और एक युगल भोजपत्रपर 'शिव शिव' लिखकर इन कागजों और भोजपत्रोंको भागीरथीमें प्रवाहित कर रहे थे। हमने भी इनके अनुकरणमें एक भोजपत्रपर कृष्ण-कृष्ण लिखकर भागीरथीको भेंट करते हुए कहा कि जब प्रयागमें कालिन्दी मिलें तो उन्हें सौंप देना। सभीके ये स्मरण-पत्र भागीरथीकी कायापर लहराते हुए प्रवाहकी तेजीके कारण पलक मारते दृष्टि ओझल हो जाते।

इन कृत्योंके अनन्तर हमने गङ्गामन्दिरमें गङ्गाजीकी मूर्तिके दर्शन भी किये।

आज संध्याको गङ्गोत्तरीके समस्त ब्राह्मणोंका हमारी ओरसे भंडारा था। हमने देखा कि इन भंडारोंमें यहाँके लोग भोजपत्रपर भोजन करते हैं। ब्राह्मण-भोजन हो चुकनेपर ही हमलोगोंने आज कुछ देरसे भोजन किये।

भण्डारेके अनन्तर संध्याको जब गोविन्ददास अपनी सायं-संध्या कर चुके, तब रत्नकुमारीने पण्डितराज जगन्नाथ-कृत गङ्गालहरीका मधुर कण्ठसे पाठ किया और तदनन्तर सुरसरिकी स्तुतिमें स्वरचित एक गीतको गाकर भागीरथीको भेंट किया।

गीत

विष्णु लोकसे उतरी जननी संवृत करती वेग महान।
अवनी काँप उठी, ऊर्जस्वित, देख तरङ्गावली वितान॥
लीन हुयीं हर-जटाजूटमें दया द्रवित कर अवनी ध्यान।
शिव विराटको कर प्रसन्न जब लाये माँग भगीरथ दान॥
अंश रूपसे प्रकटीं भूपर, तप पुनीत सुन नृप आह्वान।
पृथिवीके मानवने पाया, जलमें निज जीवन अभिमान॥
गगनोन्नत हिमगिरि मस्तकपर, वंकिम गतिमय बीचि विलास।
हर शिर शोभित चन्द्रकलाका, निर्मल उज्ज्वल मानो हास॥
उपल-कठोर-शृंग गिरिपथके, भेद चली उत्तुङ्ग तरङ्ग।
सदा-स्वभाव सदय जननी भी, सह न सकी रंचक गति भङ्ग॥
प्रबल-प्रवाह-प्रताड़ित पर्वत, हिमके गिरते खण्ड विखण्ड।
शत शत शिला शकलमय होतीं, तृण सम बहते वन-तरु-दण्ड॥
घन-प्रचण्ड उद्घोष उग्ररव हहराता प्रवाह उद्दाम।
युग-तट-शैल विकम्पित मानों, करते लहर थपेड़े वाम॥

त्रिविध-ताप-ज्वाला जगतीकी, चिर अतृप्ति मृगतृष्णा भ्रान्ति ।
तमसावृत उत्सङ्ग मृत्युका, पाकर पाती केवल शान्ति ॥
सह न सकी जननी निज जनके विषम कर्मके विषमय भार ।
तीव्र-तरङ्ग-धारसे काटे, कर्म रज्जुके काले तार ॥
शीतल, शान्तिद, सुधा नीरसे, धोये बन्धनके व्रण दाग ।
मज्जन, पान, सुनिर्मल काया, ध्यान धौत अनुराग विराग ॥
तजूँ मुक्ति, भज मुक्ति निरन्तर, उद्भासित कर आत्मिक ओज ।
ब्रह्म कमण्डलु, विष्णु चरणतक, पहुँचूँ तव पावन पथ खोज ॥

(क्रमशः)

श्रीभरतलालजीका स्वप्न

(लेखक—श्रीबलरामजी शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

स्वप्नसे शुभ और अशुभ फल विचार करनेकी प्रथा बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है। स्वप्नके आधारपर शुभ और अशुभ फल-विचारकी प्रणाली विदेशोंमें भी थी और अब भी है। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आ रही है। स्वप्न एक विज्ञान है। स्वप्न-विज्ञानका सम्बन्ध सीधे मनोविज्ञानसे है। मनोविज्ञानके विद्वान् कई प्रकारसे स्वप्नका विचार करते हैं। यह भी मानना उचित नहीं है कि सभी स्वप्नोंके फल प्राप्त ही होते हैं। सभी स्वप्न फल नहीं देते। न सभी स्वप्न भविष्यकी ही सूचना देते हैं। अतः सभी स्वप्नोंके आधारपर शुभ-अशुभ फल-प्राप्तिका विचार भी नहीं करना चाहिये। बहुत-से स्वप्न केवल कल्पनामात्र होते हैं।

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्त्तेनाथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो वृथा भवेत् ॥

व्याधिसे ग्रस्त, शोकसंतप्त, चिन्तासे व्याकुल, कामार्त्त, मदिरापान करके मतवाले व्यक्ति यदि स्वप्न देखते हैं तो उनके स्वप्नोंके फल नहीं प्राप्त होते।

आधुनिक विद्वान् इन्हीं आधारोंपर स्वप्नोंका शुभ-अशुभ फल नहीं स्वीकार कर सकते। परंतु यह तथ्य ऐसा नहीं है, जिसे केवल आधुनिक विद्वानोंके कहनेको ही अन्तिम निर्णय मान लिया जाय। भारतके प्राचीन ऋषियों-मुनियोंने भी स्वप्न-विज्ञानका गहरा अध्ययन किया था। स्वप्न-विज्ञान एक ऐसा रहस्य है, जिसे गहरे अध्ययन और विवेचनकी आवश्यकता है।

हमारे प्राचीन महाकाव्योंमें स्वप्न-विज्ञानका भी उल्लेख है। प्रस्तुत प्रसंगमें आदिकाव्य वाल्मीकिरामायणके आधारपर श्रीभरतलालजीके ननिहालमें देखे गये स्वप्नपर संक्षेपमें कुछ लिखा जा रहा है। विवाहके पश्चात् श्रीभरतजी ननिहाल चले गये। इधर भरतजीके ननिहाल जानेपर अयोध्यामें बहुत-से परिवर्तन हो गये। श्रीरामचन्द्रजी भाई लक्ष्मणके साथ सीताको लेकर वन चले गये। पुत्र-वियोगमें महाराज दशरथने प्राण त्याग कर दिये। अयोध्या नगरीमें दुःखका साम्राज्य छा गया। उधर भरतके पास इन कुसमाचारोंको पहुँचानेकी आवश्यकता तब प्रतीत हुई जब अयोध्या बिना राजाकी नगरी हो गयी। भरतजीका ननिहाल बहुत दूर कैकेय देशमें था। यातायातके साधन आजकी भाँति नहीं थे। महर्षि वसिष्ठने भरतजीको बुलानेके लिये दूत भेजा। महाराज दशरथजीकी मृत्युके दिन श्रीभरतलालजीने पिछली रातमें भयानक स्वप्न देखे। जबतक दूत भरतजीके पास नहीं पहुँचा, तबतक रात्रिमें भरतजीको कुस्वप्नोंका दर्शन होता रहा। कुस्वप्नोंसे भरतजीका मन बहुत प्रभावित हुआ। भरतजी कुस्वप्नोंके अशुभ फलकी कामना करके बहुत चिन्तित हो जाते थे। उनके साथी उनकी मुखाकृति देख-देखकर उनसे अनेकों प्रश्न करते थे। उधर अयोध्याके नगरवासी और राजघरानेके सदस्य प्रत्यक्ष दुःखानुभूतिसे तड़प रहे थे। इधर भरतजी दूरस्थ देशमें रहकर केवल कुस्वप्नोंके कारण दुःखसागरमें गोता लगा रहे थे। भरतजीके मनकी आशङ्काओं और मानसिक दुःखानुभूतियोंका वेग बढ़ता ही गया। महात्मा तुलसीदासजीने संक्षेपमें ही इस प्रसंगका उल्लेख किया है—

दिन प्रति देखहिं रात कुसपना ।
जागि करहिं कटु कोटि कल्पना ॥

श्रीभरतजीके कुस्वप्नोंकी सूची महात्मा तुलसीदासने उपस्थित करना शायद उचित नहीं समझा। महात्मा तुलसीदासजीने केवल भरतजीके कोटि-कोटि कल्पनाओंका ही उल्लेख किया है। आदिकवि वाल्मीकिजीने श्रीभरतके स्वप्नोंका विशद विवेचन किया है। भरतजी जब स्वप्नोंके आधारपर कल्पनाओंसे बहुत कातर हो गये, तब उनके साथी उनसे बार-बार मलिनमुख होने और चिन्ता करनेका कारण पूछने लगे। भरतलालजीको अपने साथियोंसे

चिन्तातुर होनेका कारण बताना पड़ा । आदिकवि वाल्मीकिजीने लिखा है—

श्रृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ।

(अयोध्या० सर्ग ६९ श्लोक ७)

आज रातको मैंने स्वप्नमें देखा है 'पिताजी (महाराज दशरथ) मलिनमुख हैं । उनके केश खुले हुए हैं । वे पर्वत-शिखरसे एक गोबरके गड्ढेमें गिर गये हैं । वे उस गड्ढेमें तैरते हैं और बार-बार हँसते हुए चुल्लूसे तेल पी रहे हैं । फिर वे (पिताजी) तिलमिश्रित भात खाते हैं और अपना सिर नीचा करके सम्पूर्ण शरीरमें तेल लगा रहे हैं— तेलमें स्नान कर रहे हैं । समुद्र अचानक सूख गया है । चन्द्रमा धरतीपर गिर पड़ा है । समस्त संसार राक्षसोंसे त्रस्त हो गया है । सर्वत्र अँधेरा छा गया है । महाराजकी सवारीमें रहनेवाले हाथियोंके दाँत टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं । धधकती आग एकाएक बुझ गयी है । पृथ्वी फट गयी है । वृक्ष अचानक सूख गये हैं । पर्वत गिर पड़े हैं । पर्वतोंसे धुआँ निकल रहा है । पिताजी काला वस्त्र पहने रथपर चढ़कर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे हैं । लाल कपड़े पहने हुए एक भयानक राक्षसी उन्हें (पिताजीको) दक्षिणकी ओर खींच रही है और हँस रही है । आजकी रात्रिमें मैंने भयानक स्वप्न देखा है । भरतजी अपने-आप उन कुस्वप्नोंका फल भी बतलाने लगे । अतः निश्चित ही (मेरे घरपर) पिताजीकी या अन्य किसीकी मृत्यु हो गयी या होगी ?' भरतजीने स्पष्ट कहा 'ये कहे हुए स्वप्न बिना कभी सोचे ही दीखे हैं, अतः इनका भयानक फल भी अवश्यम्भावी है । एतदर्थ मेरे हृदयमें बड़ा भय उपस्थित हो गया है ।' अन्तमें भरतजीने कहा, 'मुझे बार-बार ऐसा प्रतीत हो रहा है कि शायद मैं अब पिताजीके दर्शन न कर सकूँगा ।'

इमां च दुःस्वप्नगतिं निशम्य हि
त्वनेकरूपामवितर्कितां पुरा ।
भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥

(वाल्मीकि अयोध्या० ६९ । २१)

भरतजी अपने स्वप्नोंका वर्णन अपने मित्रोंको सुना रहे थे । उसी समय महर्षि वसिष्ठजीका भेजा दूत भी दुःसंवाद सुनानेके लिये पहुँच गया ।

श्रीभरतलालजीने स्वप्नोंमें जो कुछ देखा उसके फल विशेषरूपसे मृत्युजन्य कष्टके रूपमें भारतीय फलित ज्योतिषके ग्रन्थोंमें उल्लिखित हैं ।

(१) स्वप्नमें तेलका मर्दन, (२) गोबरके गड्ढेमें गिरना, (३) भात खाना, (४) समुद्रका सूखना, (५) चन्द्रमाका पतन, (६) सूर्यका पतन, (७) अँधेरा छाना, (८) पृथ्वीका फटना, (९) पर्वतका गिरना, (१०) धुआँ निकलना, (११) काला या लाल कपड़ा पहनना, काली स्त्री द्वारा मारा जाना या खींचा जाना, (१२) लाल कपड़ा या लाल चन्दनका उपयोग, (१३) गधे या ऊँटकी सवारी, (१४) दक्षिण दिशाकी यात्रा, (१५) औरतों-द्वारा दक्षिण दिशामें खींचा जाना आदि दृश्य अशुभ फल व्यक्त करते हैं । स्वप्नमें दक्षिण दिशाकी यात्रा या दक्षिण दिशामें खींचा जाना दोनों मृत्युके सदृश कष्ट देनेकी सूचना देते हैं । भरतजीके स्वप्न मृत्युके सूचक थे ।

चन्द्रमाका पतन, पर्वतका गिरना, अँधेरा छा जाना आदि बातें यों ही भयानकताकी प्रतीक हैं । स्वप्नमें तेलका मर्दन और तेलमें स्नान भी मृत्युसूचक माने गये हैं । मत्स्यपुराणमें लिखा है—

स्नेहपानावगाहौ च रक्तमाल्यानुलेपनम् ।
एवमादीनि चान्यानि दुःस्वप्नानि विनिर्दिशेत् ॥

स्वप्नमें गोबरके गड्ढेमें गिरना महान् अशुभ माना है । मार्कण्डेयपुराणमें लिखा है—'स्वप्नमें कीचड़में गिरना भी महान् अशुभका द्योतक है—

आमस्तकतलो यस्तु निमज्जेत् पङ्कसागरे ।
दृष्ट्वा तु तादृशं स्वप्नं सद्य एव न जीवति ॥

(मा० पुराण)

स्वप्नमें स्त्रीद्वारा दक्षिण दिशामें खींचा जाना मृत्यु-द्वारा ही खींचा जाना माना गया है । अर्थात् जिसे स्वप्नमें कोई स्त्री दक्षिण दिशाकी ओर खींचकर ले जाती है, उसकी सद्यः मृत्यु समझनी चाहिये । आचार्य देवल, आचार्य सुश्रुत एवं मार्कण्डेयपुराण आदिके वचनोंसे प्रमाणित हो जाता है कि स्वप्नमें स्त्रीद्वारा दक्षिण दिशामें खींचा जाना कितना भयानक फलका द्योतक है ।

कृष्णाम्बरधराः श्यामा गायन्ति च हसन्ति याः ।
दक्षिणाशां नयेन्नारीः स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥

(मार्कण्डेयपुराण)

कृष्णाम्बरधरा नारी हसन्ती मुक्तमूर्धजा ।
यं चाकर्षति बद्ध्वा स्त्री नृत्यन्ती दक्षिणामुखम् ॥
(सुश्रुत)

कृष्णाम्बधराः श्यामा गायन्ती वाऽप्यथाङ्गनाः ।
नयेयुर्दक्षिणामाशां स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥
(देवल)

उपर्युक्त उद्धरणोंमें काली स्त्रीद्वारा दक्षिण दिशामें खींचा जाना और काली स्त्रीका हँसना दोनों ही बातें उपलब्ध हो रही हैं। भरतजीके स्वप्नमें लाल चन्दन और लाल वस्त्रका धारण करना मृत्युसूचक माना गया है। स्वप्नमें गधा-ऊँटकी सवारी भी मृत्युकी सूचना मानी गयी है। आचार्य देवलने भी स्वप्नमें लाल वस्त्र या लाल चन्दनका धारण करना आसन्नमृत्युका लक्षण बतलाया है।

रक्तगन्धाम्बरः स्रग्वी गच्छेद्वा दक्षिणामुखः ।
खरोष्ट्रमपि वाऽऽरोहेत् त्रीन् मासान् नाभिजीवति ॥
(देवल)

स्वप्नमें नदी या समुद्रके सूखनेका दृश्य देखना भी आसन्नमृत्युका लक्षण है। मार्कण्डेयपुराणमें इसका उल्लेख स्पष्टरूपसे मिलता है।

केशाङ्गराणि वा भस्म भुजङ्गान् निर्जलां नदीम् ।
(मार्कण्डेयपु०)

भरतजीने स्वप्नमें देखा कि दशरथजी हँस-हँसकर तेल पान कर रहे हैं। स्वप्नमें हँसना और तेल पान करना महान् अशुभ माना गया है। भरतजीने स्वप्नमें यह भी देखा कि धधकती अग्नि एकाएक बुझ गयी।

पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्निव मुहुर्मुहुः ।
(अयोध्या० ६९ । ९)

सहसा चापि संशान्ता ज्वलिता जातवेदसः ।
(अयोध्या० ६९ । १२)

स्वप्नमें हँसने और स्वप्नमें रोनेके फलोंका उल्लेख करते हुए आचार्य बाराहमिहिरने लिखा है—

हास्ये प्राप्नोतिबधं रुदिते हास्ये प्रगीतके रोगम्।

स्वप्नमें धधकती अग्निके अचानक शीतल होनेके दृश्य-दर्शनका फल बतलाते हुए आचार्य चरकने लिखा है—

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुह्वतोऽग्निमनर्चिषम् ।
पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यति ॥

भरतजीने स्वप्नमें यह भी देखा कि दशरथजी लाल कपड़ा पहनकर लाल चन्दन लगाकर गधेसे जुते रथपर सवार होकर दक्षिण दिशाको भागे चले जा रहे हैं।

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः ।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥
(अयोध्या० ६९ । १५)

स्वप्नमें गधेकी सवारीसे दक्षिण दिशाकी यात्रा सद्यः मृत्युका आलिङ्गन माना गया है।

लिङ्गपुराणमें लिखा है—

उष्ट्रा वा रासभा वापि युक्ताः स्वप्ने रथेऽशुभाः ।
यस्य सोऽपि न जीवेत् तु दक्षिणाभिमुखो गतः ॥

मार्कण्डेयपुराणमें भी लिखा है—

उष्ट्ररासभयानेन यः स्वप्ने दक्षिणां दिशम् ।
प्रयाति तं चेज्जानीयात् सद्योमृत्युं नराधिपः ॥

चरकाचार्यने भी लिखा है—

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वापि याति यो दक्षिणां दिशम् ।
स्वप्ने पक्षं तथाऽऽसाद्य स जीवन्तं विमुञ्चति ॥

इस प्रकार मृत्युकी सूचना देनेवाले अनेक लक्षणोंसे युक्त स्वप्नोंका विवेचन आचार्योंने किया है। आचार्योंद्वारा कथित लक्षणोंमें भरतजीके स्वप्नमें देखे गये दृश्य स्पष्ट लक्षित होते हैं।

स्वप्नफल-विचार-परम्पराके उपर्युक्त विवरणोंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भरतजीका सपना कितना भयानक सिद्ध हुआ। राजा दशरथजीकी मृत्यु, श्रीरामचन्द्रजीका वन-गमन-काण्ड सात दिनके भीतर ही देखना पड़ा। अमङ्गल-सूचक स्वप्नोंका फल कितने दिनोंमें प्राप्त होता है, इसपर भी भारतीय आचार्योंने प्रकाश डाला है। मृत्युजनक स्वप्नोंके अवधि-सूचक लक्षणोंमें कुछ लक्षणोंका उल्लेख निम्न प्रकारसे किया जा रहा है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें लिखा है कि स्वप्न यदि रात्रिके प्रथम प्रहरमें देखा जाता है तो उसका फल एक वर्षमें प्राप्त होता है। द्वितीय प्रहरमें देखे गये स्वप्नका फल छः मासमें प्राप्त होता है। रात्रिके तीसरे प्रहरमें देखे गये स्वप्नका फल तीन मासमें उपस्थित होता है और रात्रिके अन्तिम प्रहरमें देखे गये स्वप्नका फल एक मासके भीतर ही उपलब्ध होता है।

भरतजीने अपने स्वप्नोंके फलज्ञानके पूर्व यह घोषित कर दिया था कि ये सपने बिना पूर्वमें चिन्तन किये उपस्थित

हुए हैं, अतः इनका कुफल अवश्य होगा और हुआ भी। महाराज दशरथजीकी मृत्यु अयोध्यामें एक भयानक घटना थी। श्रीरामचन्द्रजीका वनगमन समस्त जनताके लिये दुर्भाग्यपूर्ण समाचार था। इन अघटित घटनाओंका ज्ञान भरतलालजीको स्वप्नद्वारा ही अवगत हो गया था।

स्वप्न-विचार आज भी बहुतेरे लोग करते हैं। स्वप्न-विचारमें बहुत सावधानीपूर्वक विचार किया जाता है। स्वप्न देखकर सो जानेपर उसका फल नहीं घटित होता। अतः बुरे स्वप्नोंको देखकर सो जानेके लिये आचार्योंका आदेश है। शुभ स्वप्नोंको देखनेके बाद नहीं सोना चाहिये। श्रीभरतलालजीके विषयमें महात्मा तुलसीदासजीने लिखा है—

दिन प्रति देखहिं रात कुसपना। जागि करहिं कटु कोटि कल्पना॥

इससे यह प्रमाणित होता है कि भरतजी स्वप्न देखकर उसके भयानक परिणामोंको सोचते-समझते पुनः सो नहीं पाते थे। मन स्थिर रहता है तो नींद आती है।

भारतके अतिरिक्त देशोंमें भी प्राचीन कालसे स्वप्न-विचारकी परम्परा चली आ रही है। यूनानमें स्वप्न-विचारकी परम्परा व्यापकरूपमें थी। किसी यात्रापर जानेके पूर्व कोई भी व्यक्ति 'स्वप्न-मीमांसक' की शरणमें जाकर पिछली रातोंमें देखे स्वप्नोंकी व्याख्या कराता था और खूब समझ-बूझकर अपनी यात्रा करता था। कहा जाता है कि सिकन्दर जब विजय-यात्रामें चला, तब उसके साथ सर्वश्रेष्ठ स्वप्न-मीमांसक थे। सिकन्दरको एक बार 'टायर' नगरकी लड़ाईमें भयानक मुकाबला करना पड़ा। उस युद्धसे घबराकर वह घेरा तुड़वाकर पीछे हटना चाहता था, उस रात्रिमें स्वप्नमें उसने एक सुन्दरी परीको नृत्य करते देखा। स्वप्न-मीमांसकोंने उससे विजयकी पूर्ण आशा व्यक्त की। बस क्या था, सिकन्दरने आक्रमणकी आज्ञा दे दी और 'विजय-श्री' उसके हाथ लगी।

'बाइबिल' में स्वप्नद्वारा फल-ज्ञानकी चर्चा कई स्थलोंपर आयी है। 'फारा' और उसके नौकरोंके स्वप्नोंका फल-विचार कई स्थलोंपर उल्लिखित है। पहले यूरोपके जुआड़ी अपने पास एक स्वप्न-पुस्तिका रखते रहे। वे स्वप्नकी संख्याओंके आधारपर जुआमें जीतने-हारनेवाले अंकोंका विचार करके जुआ खेलते थे। प्राचीनकालमें कई देशोंमें स्वप्नको दैवी संकेत समझा जाता था।

महर्षि वाल्मीकिजीने अपने आदिकाव्य वाल्मीकि-रामायणमें स्वप्न-विज्ञानकी चर्चा अनेक स्थलोंपर की है। उनमें श्रीभरतजीका सपना और त्रिजटाका सपना विशेष उल्लेखनीय है।

तुझसे ही—

मालिक! आजतक रोया हूँ, तो तुझसे। माँगा है, तो तुझसे।
आगे भी—
रोऊँगा, तो तुझसे! माँगूँगा, तो तुझसे।
काँपता हूँ; लड़खड़ाता हूँ। आस्थामें बाल-सी दरार भी निमिष-मात्रको पड़-पड़ जाती है कभी-कभी, शायद।
फिर भी—
रोऊँगा, तो तुझसे ही। माँगूँगा, तो तुझसे ही।
मेरे ऐसे एकमें अनेकके लिये जगह नहीं। तेरा होकर अब और किसका बनूँ? कैसे बनूँ? बन पाता ही नहीं।
मालिक! रोऊँगा, तो तुझसे ही। माँगूँगा, तो तुझसे ही।

—बालकृष्ण बलदुआ

अपराधीसे महात्मा

(२)

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

अपराधीका हृदय-परिवर्तन

पादरी विनवेनू कैसा था, हमने (पिछले अङ्कमें) देखा। प्रेम, करुणा, दया, क्षमा, उदारता, सादगीसे ओतप्रोत विनवेनू वह पारस है, जिसके स्पर्शसे जीन वैलजीन नामका अपराधी सोना हो उठता है।

पारस में अरु संत में यहै अंतरा जान।
वह लोहा कंचन करै, यह करै आपु समान॥

किन परिस्थितियोंमें अपराधकी मनोवृत्तियोंको पनपनेका मौका मिलता है, किन परिस्थितियोंमें फँसकर मनुष्य अपराधी बन बैठता है और गलत जानते हुए भी गलत काम कर बैठता है, इसका एक सामान्य उदाहरण है—जीन वैलजीन।

पर अपराधीके भीतर भी प्रकाशकी ज्योति दबी पड़ी रहती है, उसके हृदयके भीतर भी भगवान् सोये पड़े रहते हैं, उसमें भी संतके स्पर्शसे ऊपर उठनेकी, अपना कल्मष धो डालनेकी प्रेरणा पैदा होती है, हो सकती है, वह भी पश्चात्तापके आँसुओंमें अपना कलंक धोकर स्फटिक मणिकी भाँति स्वच्छ, पवित्र और उज्ज्वल बन सकता है, इसका एक प्रेरक उदाहरण है जीन वैलजीन।

अपराधीका हृदय-परिवर्तन

सूर्यास्तमें अभी एक घंटेकी देर है, अक्टूबरका महीना है, एक पदयात्री द······नगरमें प्रवेश कर रहा है, दरिद्रों-जैसा वेश, फटे-पुराने वस्त्र, ४६-४७ सालकी उम्र, बाल कटे, दाढ़ी बढ़ी हुई, हट्टा-कट्टा शरीर, पीठपर थैला, हाथमें डंडा।

देखनेसे लगता है कि यह यात्री बहुत थका है, बड़ा भूखा है, बड़ा प्यासा है।

यात्री प्रशासकके दफ्तरमें घुसा। आध घंटे बाद निकलकर वह सरायकी ओर बढ़ा। सरायमें उसकी असलियत-का पता लग जानेके कारण उसे न भोजन मिला, न ठिकाना! तब एक भटियारखानेमें उसने शरण लेनेकी ठानी, पर वहाँ भी उसे ठिकाना नहीं मिला। बीचमें जेलका फाटक मिला। उसने कहा—'मुझे रातभर टिकने दो।' जवाब मिला—'यह सराय नहीं, गिरफ्तार होकर आओ तो हम फाटक खोल देंगे।' उसके बाद कुत्तोंकी एक माँदमें भी जब उसे स्थान न मिला, एक कुत्तेने गुर्राकर भगा दिया तो वह हताश हो मैदानमें पत्थरकी बेंचपर जा लेटा।

एक दयालु स्त्रीने वहाँ उसे लेटे देखा तो बोली—'क्यों लेटे हो यहाँ भैया? जाड़ेकी यह रात इस पत्थरपर कैसे कट सकेगी?'

'कहाँ जाऊँ भली बाई? किसी सरायमें भी तो ठिकाना नहीं मिलता!'

'वह दरवाजा खटखटाया है तुमने?'

'नहीं तो!'

'खटखटाकर देखो न!'

× × ×

घर था द······के बड़े पादरीका, बिशपका।

बूढ़े पादरी विनवेनूकी दासी मैगलोयर पादरीकी बहन बैपटिस्टाइनसे अभी कह ही रही थी कि 'नगरमें बड़ी सनसनी है कि आज कहींसे एक आवारा आ गया है, पता नहीं रात कैसी गुजरे, पादरी बाबा दरवाजेमें साँकल भी नहीं लगाने देते, यह ठीक नहीं,' तभी दरवाजेपर जोरकी थाप पड़ी।

पादरीने कहा—'भीतर आ जाइये।'

× × ×

यात्रीने भीतर आते ही कहा—'देखिये, मेरा नाम है जीन वैलजीन। मैं हूँ अपराधी। उन्नीस सालकी सजा काटकर अभी लौट रहा हूँ काले पानीसे। चार दिन पहले मैं जेलसे छूटा। अपने घर पोंटरलियर जा रहा हूँ मैं। आज मैं १८ कोस चला हूँ। किसी सरायमें मुझे ठिकाना नहीं मिला। प्रशासकके यहाँ मैंने अपना यह पीला पासपोर्ट दिखाया था। दिखाना ज़रूरी भी था। पर उसके चलते मुझे किसी सरायमें ठिकाना नहीं मिला। सब जगह मैं फटकारकर भगा दिया गया। यहाँतक कि कुत्तोंकी माँदमें भी मुझे ठिकाना नहीं मिल सका। खेतोंमें पानी बरसनेके डरसे नहीं लेटा। नगरके भीतर चला आया। यहाँ एक पत्थरपर पड़ा था कि एक भली बाईने यह दरवाजा मुझे दिखा दिया। आप मुझे ठहरनेके लिये जगह देंगे क्या? बहुत थका हूँ, बड़ा भूखा हूँ। पैसा मेरे

पास है । मैं खाने-पीने-ठहरनेका पैसा चुका दूँगा । मेरे पास १०९ फ्रांक और १५ सू हैं—उन्नीस सालकी जेलकी कमाई-के । आपके यहाँ ठहर सकता हूँ मैं ?'

'श्रीमती मैगलोयर, एक थाली और लगा लेना'—पादरीने कहा ।

यात्री तीन कदम आगे बढ़कर बोला—'आप शायद मेरी बात समझे नहीं । मैं अपराधी हूँ । काले पानीकी सजा काटकर आया हूँ । यह है मेरा पासपोर्ट । यह देखिये, इसमें लिखा है कि 'यह जीन वैलजीन बड़ा खतरनाक है । इसे सेंध मारनेमें ५ सालकी सजा हुई थी और जेलसे चार बार भागनेके जुर्ममें और १४ सालकी सजा हुई थी ।' मेरे-जैसे अपराधीको आप ठहरायेंगे अपने यहाँ ? मुझे खानेको देंगे ? मुझे रातभर सोने देंगे ? आपके यहाँ अस्तबल है क्या ?'

'श्रीमती मैगलोयर उधर बगलवाले बिस्तरपर कुछ चद्दरें रख देना ।' पादरीने कहा ।

यात्रीकी ओर मुड़कर बिशपने कहा—'महाशय ! आप बैठिये, तापिये । हाथ-पैर सेंकिये । थोड़ी देरमें हमलोग भोजन करेंगे और तबतक आपका बिस्तर लग जायगा ।'

अब यात्री समझा । उसे कुछ प्रसन्नता हुई, कुछ संदेह, कुछ आश्चर्य । पागलकी तरह बड़बड़ाता-सा बोला—'सच ! आप मुझे ठहरने देंगे ? आप मुझे निकाल बाहर नहीं करेंगे ? आप मुझे 'महाशय' कहकर पुकारते हैं—'ऐ कुत्ते, यहाँसे भग जा ।'—कहकर मुझे दुतकारते नहीं ! मैंने जब आपको अपना परिचय दिया तभी मुझे ऐसा लगा कि आप मुझे निकाल बाहर करेंगे । भला हो उस बाईका जिसने मुझे यह दरवाजा दिखाया । मुझे भोजन मिलेगा ! बिस्तरपर सोने-को मिलेगा । उन्नीस सालसे मैं कभी बिस्तरपर नहीं सोया ! हाँ, मेरे पास पैसा है । मैं आपको अच्छा पैसा चुकाऊँगा । श्रीमान्‌जी, बड़े अच्छे भटियारे हैं । अपना शुभ नाम बतायेंगे ? आप जितना कहेंगे, मैं उतना ही पैसा चुका दूँगा । आप बड़े अच्छे सरायवाले हैं । हैं न ?'

'मैं यहाँका पादरी हूँ'—बिशपने कहा ।

'अच्छा, आप पादरी हैं ? आप बड़े अच्छे पादरी हैं । तब तो आप मुझसे पैसा नहीं लेंगे ? आप पादरी हैं ? इस बड़े गिरिजाघरके पादरी हैं ? हैं न ? मैं भी कैसा मूरख हूँ कि मैंने आपकी टोपी नहीं देखी ।'

'नहीं महाशय, मैं पैसा नहीं लूँगा, अपना पैसा अपने पास रखिये ।'

यात्रीसे बातें चल ही रही थीं तभी मैगलोयर भोजन ले आयी ।

पादरीने उसकी ओर देखकर कहा—'श्रीमती मैगलोयर, इनकी थाली आगके नजदीक सजाना' फिर अतिथिकी ओर देखकर कहा—'अल्प्स पर्वतमें बड़ी ठंडी हवा है, आप उधरसे आ रहे हैं । आपको सर्दी लगती होगी महाशय !'

पादरी हर बार अतिथिको सम्बोधित करता तो 'महाशय' कहता । अतिथिको लगता मानो प्याससे छटपटाते व्यक्तिको कोई ठंडे जलका गिलास पिला रहा है ।

'रोशनी बड़ी धीमी है'—पादरीके मुँहसे ऐसा सुनकर मैगलोयर चाँदीके दो शमादान ले आयी और मेजपर उन्हें सजा दिया ।

'पादरी महाशय, आप बहुत अच्छे हैं । आप मेरा तिरस्कार नहीं करते । आपने मुझे अपने घरमें ठहराया है । आप मेरे लिये शमादान जलवाते हैं और मैं आपको बता चुका हूँ कि मैं कहाँसे आ रहा हूँ और मैं कितना बड़ा दुखिया हूँ ।'

बिशपने बड़े धीरेसे उसका हाथ छूकर कहा—'आपको यह बतानेकी जरूरत नहीं कि आप कौन हैं । यह घर मेरा नहीं है । यह तो प्रभुका घर है । यहाँ किसीसे यह नहीं पूछा जाता कि तुम्हारा नाम क्या है ? बल्कि यहाँ तो यही पूछा जाता है कि तुम पीड़ित हो क्या ? आप कष्टमें हैं, आप भूखे हैं, आप प्यासे हैं । आपका स्वागत है । इसके लिये मुझे धन्यवाद मत दीजिये । यह मत कहिये कि यह मेरा घर है यह किसी खास आदमीका घर नहीं है । जिस किसीको भी छायादार जगहकी जरूरत है, उसीका यह घर है । आप यात्री हैं फिर भी मैं कहता हूँ कि यह घर मुझसे अधिक आपका है । यहाँ जो कुछ है सब आपका है । आपका नाम जाननेकी मुझे जरूरत ही क्या है ? और जब आपने अपना नाम बताया, उसके पहले ही मुझे आपका नाम मालूम था ।'

यात्री चौंका—'सच मेरा नाम आपको पहलेसे मालूम था ?'

'हाँ'—बिशपने कहा—'आप हैं 'मेरे भाई' ।'

'रुकिये, रुकिये पादरी महाशय, मैं जब आया तब मैं भूखके मारे मरा जा रहा था । आप कितने अच्छे हैं । मैं

नहीं जानता कि अब मैं क्या हो गया हूँ। पहलेकी सारी बात खतम हो गयी है।'

'आपको बड़ा कष्ट झेलना पड़ा है। है न?' बिशपने पूछा।

'ओह, क्या पूछते हैं उस कष्टकी कहानी! वे जंजीरें बेड़ियाँ! वह परिश्रम! सोनेके लिये वे तख्ते! सर्दी! गरमी! बरफ! क्या नहीं! वे कुत्ते, हाय वे कुत्ते भी मुझसे सुखी थे। और यह सब एक दो दिन नहीं, लगातार उन्नीस साल! आज मैं ४६ का हुआ और तब मुझे मिला है यह पीला पासपोर्ट।'

'तो' बिशपने कहा—'आपने कष्टका एक स्थान छोड़ा है। पर सुनिये, स्वर्गमें किसी पापीके पश्चात्तापके आँसुओंपर सैकड़ों सफेद-पोश भले आदमियोंसे बढ़कर खुशी मनायी जायगी। यदि उस दुःखद स्थानको आप मनुष्यके प्रति घृणा और क्रोधकी भावनाके साथ छोड़ते हैं तो आप दयाके पात्र हैं; पर यदि आप उसे शुभेच्छा, उदारता और शान्तिके साथ छोड़ते हैं तो हममेंसे कोई भी आपका मुकाबला नहीं कर सकता।'

प्रार्थनाके उपरान्त तीनों जीमने लगे—पादरी, अतिथि और बेपटिस्टाइन।

'मेजपर कुछ खाली-खाली-सा लगता है।'—बिशपकी यह बात सुनते ही मैगलोयरने तीन थालियाँ लाकर और सजा दीं। किसी अतिथिके आनेपर वृद्ध पादरीकी यह इच्छा जाग्रत् हो जाती थी कि चाँदीकी छै-की-छै थालियाँ मेजपर सजा दी जायँ। उसके अत्यन्त सादे जीवनमें चाँदीकी ये थालियाँ और चाँदीके दो शमादान ही अपवाद थे।

× × ×

बिशपका भोजन इतना सादा था कि अतिथिको लगा कि यह बहुत छोटा 'क्यू रे'—पादरी है, तब तो ठेलेवालोंसे भी गया-गुजरा भोजन करता है। उसे क्या पता था कि पादरीकी यह गरीबी स्वयं निर्मित है। वह अपनी आयका अधिकांश दीन-दुखियों और पीड़ितोंकी सेवामें लगा देता है।

बिशपने पूछा—'महाशय जीन वैलजीन, आप पोंटरलियर जा रहे हैं?'

'हाँ, जाना तो है।' उसने कहा—

'बड़ी अच्छी जगह है वह। परिश्रम करके खानेकी बड़ी अच्छी जगह है। मैं कुछ दिन पसीनेकी कमाई करता रहा हूँ वहाँ। डेयरीका काम वहाँ खूब चलता है।'

पादरीने प्रकारान्तरसे जीन वेलजीनको इशारा तो किया कि भविष्यमें श्रमपूर्वक पवित्र जीवन बिताना उसके लिये अच्छा होगा, पर उपदेशके ढंगपर उसने कोई बात नहीं कही। बूढ़े पादरीको डर था कि कहीं उसकी किसी बातसे जीन वैलजीनका दिल न दुख जाय।

बहनको 'नमस्ते' करके पादरी महाशयने मेजपरसे एक शमादान उठाया और दूसरा शमादान अपने अतिथिके हाथमें देते हुए कहा—'महाशय, चलिये मैं आपको आपके सोनेका कमरा दिखाऊँ।'

दोनों चल दिये।

उस कमरेमें जाते हुए जीन वैलजीनने देखा कि मैगलोयर चाँदीकी थालियाँ साफ करके टोकरीमें रखकर पादरीके सिरहानेवाली अलमारीमें बंद कर रही है। कमरा पास ही था। बिस्तरपर दूध-जैसी धुली चादर बिछी थी।

'अच्छा, अब आप आराम कीजिये। आपको शान्तिकी नींद आये। सुबह मेरी गायोंका गरम दूध पीकर आप जाइयेगा।' इतना कहकर पादरी चलने लगा।

'धन्यवाद पादरी महाशय!' कहनेके बाद न जाने अतिथिके मनमें कैसा भाव आया, बोला—'आप भी खूब हैं। आपने मुझे अपने पासके ही कमरेमें लेटा लिया है।'

फिर जरा हँसकर कहा—'आपने मेरे बारेमें कुछ सोचा भी है? रातमें कहीं मैं आपका खून कर दूँ तो?'

बिशपने जवाब दिया—'वह सब भगवान् देखेगा!' और अपने दाहिने हाथकी दो उँगलियोंसे उसे आशीर्वाद देता हुआ वह अपने कमरेमें चला आया और बिस्तरपर लेटकर थोड़ी ही देरमें खुर्राटे लेने लगा।

× × ×

(२)

जीन वैलजीन ब्राइके एक गरीब किसान-परिवारमें पैदा हुआ था। बचपनमें उसे पढ़ाया-लिखाया नहीं गया। बड़े होनेपर वह फावेरोल्समें जाकर मालीका काम करने लगा। कच्ची ही उम्रमें उसके माता-पिताका देहान्त हो गया।

रह गयी केवल एक बहन। उसीने जीनको पाल-पोसकर बड़ा किया। बादमें उसका पति भी सात बच्चोंको छोड़कर

जाता रहा। उसकी मृत्युके समय सबसे बड़ा बच्चा था आठ सालका और सबसे छोटा सालभरका।

जीन वैलजीन २५ सालका हुआ तो उसने अपने पिताका मालीका काम सम्हाला। वह अपनी बहनका पालन-पोषण करने लगा। जिन दिनों मालीका काम न रहता, उन दिनों वह मजदूरीका जो भी काम मिल जाता, कर लेता। उसकी बहन भी कमाती थी, पर आमदनी बहुत कम थी, परिवार बहुत बड़ा।

एक बार बड़ी कड़ाकेकी सर्दी थी। जीन वैलजीनके पास कोई काम न था। रोटीके अभावमें सारा परिवार बिलला रहा था।

रोटीकी जुगाड़ नहीं और भूखे सात बच्चे !

तभी एक रविवारको रातके झुटपुटेमें मावर्ट इसाबू नामक नानबाईकी दुकानके शीशेकी आलमारीमें एक आदमीने घूँसा मारा और भीतरसे एक रोटी निकालकर भागा। इसाबूने दौड़कर उसका पीछा किया, चोर पकड़ लिया गया, और यह चोर था—जीन वैलजीन।

अपराध प्रमाणित हो गया। २२ अप्रैल १७९६ को 'रातमें बस्तीके भीतर सेंध मारने'के जुर्ममें उसे पाँच सालकी कड़ी कैदकी सजा दे दी गयी।

जब वह जंजीरोंमें बाँधा जा रहा था तो वह रो रहा था और सिसक-सिसककर दाहिने हाथसे ऐसा इशारा कर रहा था मानो वह छोटे-बड़े सात बच्चोंके सिर छू रहा हो, जिनका पेट भरनेके लिये उसने चोरीका यह घृणित कर्म किया।

गलेमें जंजीरोंसे कसा जीन वैलजीन अन्य कैदियोंके साथ बैलगाड़ीपर चढ़ाकर तूलों भेज दिया गया। रास्तेमें २७ दिन लगे। अब वह जीन वैलजीन नहीं रह गया। वह था क़ैदी नम्बर २४, ६०१।

उसकी बहनका क्या हुआ ? चौथे सालके अन्तमें तूलोंमें किसीने उसे खबर दी कि उसकी बहन पैरिसमें कसीदेका काम करके किसी तरह गुजर कर रही है। सिर्फ एक बच्चा है उसके पास! सबसे छोटा बच्चा। पता नहीं और छः बच्चोंका क्या हुआ ? उसके बाद न कभी उस बहनका कोई पता चला और न उस बच्चेका।

उसने बीच-बीचमें चार बार जेलसे भागनेकी कोशिश की, पर हर बार पकड़ लिया गया। पहली बार उसे इस अपराधमें ३ सालकी, दूसरी बार ५ सालकी, तीसरी बार ३ सालकी और चौथी बार फिर ३ सालकी सजा मिली। यों कुल मिलाकर उसे १९ सालकी सजा हो गयी।

अक्टूबर १८१५ में वह जेलसे रिहा किया गया। १७९६ में उसे सजा दी गयी थी इसलिये कि उसने शीशा तोड़कर एक रोटी चुरायी थी!

इंग्लैंडके आँकड़े बताते हैं कि पाँचमेंसे चार चोरियोंका कारण है—भुखमरी!

जीन वैलजीनने रोते और काँपते हुए जेलमें प्रवेश किया। जेलसे निकला वह कठोर होकर। घुसते समय वह दुखी था, बाहर आते समय उदास।

क्या जीवन था इस बेचारे जीन वैलजीनका!

× × ×

जेलमें जीन वैलजीनपर कोड़े बरसते थे, वह जंजीरोंमें कसा जाता था, कालकोठरीमें डाला जाता था, उसे भूखा रक्खा जाता था, चिलचिलाती धूपमें उससे कड़ी मेहनत ली जाती थी, कड़े तख्तेपर उसे लेटना पड़ता था!

वह पढ़ा-लिखा नहीं था, अज्ञान था, पर मूर्ख नहीं था। अक्सर वह बैठकर सोचा करता था। आत्मविश्लेषण किया करता था।

वह सोचता कि मैं निरपराध तो नहीं हूँ। मैंने चोरी की। चोरी बड़ा घृणित काम है, मैं माँगता तो शायद मुझे रोटी मिल जाती। शायद कहीं काम ही मिल जाता मुझे। तो मुझे रुकना चाहिये था। दयाकी भीखके लिये या काम पानेके लिये। पर 'जब मैं भूखा था, तब मैं कबतक रुकता ?' इस सवालका क्या जवाब है ? चोरी करनेमें मेरी ग़लती हो सकती है, है भी, पर मुझे सजा दी गयी, एक रोटीकी चोरीके लिये उन्नीस सालकी कड़ी क़ैद! मुझे इतना कठोर दण्ड देकर क्या समाजने ठीक किया ? किसी आदमीको सदाके लिये ग़रीब बनाये रखना, काम करनेको तैयार हो फिर भी काम न देना और इतना कड़ा दण्ड देना क्या उचित है ? एक ओर कामकी इतनी कमी, दूसरी ओर दण्डकी इतनी कठोरता!

जीन वैलजीन अक्सर ऐसे सवाल उठाता और खुद ही उनके जवाब देता। समाजको वह अपने सामने, अपराधीके

रूपमें खड़ा करता और उसे सजा दे डालता !

कौन-सी सज़ा ?—घृणाकी !

कौन न मानेगा कि उसे जो इतना बड़ा दण्ड दिया गया था वह अनुचित था, अन्यायपूर्ण था, क्रूर था ?

और फिर ? मानव-समाजने उसे सतानेके सिवा और किया ही क्या था ? जब उसने उसकी ओर देखा तो कड़ी नजरसे ही देखा। न्यायके नामपर उसने जब हुआ, तब उसे सताया ही। किसी भी व्यक्तिने यदि कभी उसे छुआ तो केवल उसे कुचलनेके लिये ही ! जो भी मनुष्य उसे मिला, उसने उसे पीटा ही, उसने घूँसे ही लगाये ! बचपनसे लेकर अबतक उसे जो मिला, सतानेवाला ही मिला। किसीने कभी भी उससे मीठी बात नहीं की। किसीने कभी उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। रोज-रोज बार-बार सताये जानेके कारण उसकी यह धारणा बन गयी कि जीवन एक युद्ध है और उस युद्धमें पराजय ही उसके पल्ले पड़ी है। उसके हाथमें एक ही हथियार है और वह है—घृणा। जेलमें उसने उसी हथियारको पैना किया और उसे अपने साथ बाहर ले जानेका निश्चय किया।

तूलोंमें कैदियोंके लिये एक स्कूल था। जो कैदी चाहें वे पढ़ सकते थे। जीन वैलजीनने ४० की उम्रमें वहाँ लिखना-पढ़ना और गणित सीख लिया,-पर इस ज्ञानवृद्धिसे उसकी घृणा बढ़ी ही, घटी नहीं। शिक्षाकी पद्धति गलत होनेसे मनुष्य सत्पथके बजाय कुपथपर ही आगे बढ़ जाता है।

समाजसे तो जीन वैलजीनको घृणा हो ही गयी, ईश्वरसे भी उसे घृणा हो गयी। कारण, उसीने तो ऐसा समाज बनाया है।

कभी-कभी उसके हृदयमें प्रकाश उठता, कभी अन्धकार, कभी सद्भाव जागते, कभी कुभाव। प्रत्येक मानवके हृदयमें जिस दैवी ज्योतिका निवास रहता है, जीन वैलजीनके हृदयमें भी वह छिपी पड़ी थी। किसी भी भयंकर-से-भयंकर अपराध या पापमें भी ऐसी शक्ति नहीं जो उस ज्योतिको सदाके लिये बुझा सके। जीनको मिले कष्टों, वेदनाओं और अत्याचारोंने उसे ढक दिया था अवश्य, पर उसके अस्तित्वसे कौन इन्कार कर सकता है ?

जब-तब उसके हृदयमें विचारोंका द्वन्द्व मचता। जब-जब उसने जेलसे भागनेकी कोशिश की तब एक आवाज़ उससे कहती—'भागो', दूसरी कहती 'रुको'। पशुता खुलकर खेलती। वह पकड़ा जाता तो उसपर अत्याचारोंका प्रहार और अधिक बढ़ जाता। जिसका फल यह होता कि वह पहलेसे भी अधिक उग्र और कठोर बन जाता।

जहाँतक शक्ति, बल और सामर्थ्यका प्रश्न है, जीन वैलजीनमें अकूत शक्ति थी। ऊँची-से-ऊँची दीवालपर बिना किसी सहारेके चढ़ जाना उसके बायें हाथका खेल था। शारीरिक बलमें उसकी बराबरी करनेवाला जेलमें कोई दूसरा क़ैदी था ही नहीं।

वह बहुत कम बोलता, हँसता तो कभी था ही नहीं, कभी-कभी वह काम छोड़कर बैठ जाता और विचारोंमें डूब जाता। उसे सब कुछ स्वप्न-जैसा मालूम पड़ता। पासमें खड़ा जेलर उसे भूत-जैसा लगता और तभी यह भूत उसकी पीठपर हंटर जड़ देता !

उसके लिये जो कुछ था जेलखाना ही था। बाहरी दुनिया उसके लेखे थी ही नहीं, उसके लिये न सूर्यका प्रकाश था, न ग्रीष्मके सुनहले दिन ! न दीप्तिमान् आकाश था, न अप्रैलकी जीवनदायी उषा। उसकी कालकोठरीमें खिड़कीसे कभी-कभी प्रकाशकी एकाध किरण आ जाती थी। बस !

फावेरोल्सके इस सीधे-सादे मालीमें जेलकी यातनाओंसे पीड़ित होनेके कारण दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ विकसित हो गयीं। एक तो यह कि उसके प्रति जो घोर अन्याय हुआ था, उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें वह अचानक बिना सोचे समझे कोई अपराध कर बैठता। दूसरे, वह बहुत सोच-समझकर कोई गम्भीर काम करता। उसमें तीन बातें पनपीं—तर्क, इच्छा और स्वेच्छाचार। उसपर जो अत्याचार हुए थे उन्होंने उसे बुरी बातोंका ही नहीं, अच्छी बातोंका भी विरोधी बना डाला था, उसके विचारोंकी शुरुआत भी घृणासे होती थी, अन्त भी। मानवीय कानूनके प्रति उसकी घृणा बढ़ते-बढ़ते मानव-जातितक जा पहुँचती थी और अन्तमें सारी सृष्टिके प्रति उसे घृणा हो जाती थी। इसलिये पासपोर्टमें लिखा यह वाक्य बहुत सही था कि 'यह आदमी बहुत खतरनाक है।'

× × ×

जीन वैलजीन संकटके समुद्रमें जब इस प्रकार डूब-उतरा रहा था तभी एक दिन उससे कहा गया कि 'अब तुम आजाद हो !'

वह तो चौंक पड़ा, भला ऐसा भी कभी सम्भव है ? क्या

मुझे खुली धूप, खुला प्रकाश देखनेका भी कभी मौका मिलेगा ? जिंदा आदमियोंसे मिलनेका अवसर मिलेगा ? नया जीवन, नयी रोशनी देखनेको मिलेगी ?

वह जेलसे छूट तो गया, पर पीले पासपोर्टके साथकी आजादी किस कामकी ?

और उसे दे दिये गये १०९ फ्रांक १५ सू। उन्नीस सालमें उसने जो कमाई की उसमेंसे सिर्फ इतना पैसा बचा था।

उसे लगा कि पैसे देनेमें कुछ गलती की गयी है। उसे लूट लिया गया है, जितना मिलना चाहिये था उससे बहुत कम मिला है।

दूसरे दिन उसने एक जगह मजदूरी की, मिलनेको थे ३० सू, मिले सिर्फ १५, पूरी मजदूरी माँगी तो घुड़की मिली—'भागता है या भेजूँ हवालातमें ?'

उसे लगा कि फिर उसे लूट लिया गया है !

समाजने, राज्यने उसकी बचत बहुत कम करके उसे थोक रूपसे लूटा, यहाँ व्यक्तिने उसे आधी मजदूरी देकर फुटकर रूपसे लूटा !

आजादी तो उसे मिली पर मुक्ति नहीं, कैदी जेलसे छूट सकता है, निन्दा, घृणा और तिरस्कारसे नहीं !

× × ×

घंटाघरमें दो बजे और जीन वैलजीनकी आँख खुल गयी।

क्यों ? इसलिये कि १९ साल बाद उसे बिस्तरपर सोनेको मिला था। इतना अच्छा बिस्तर !

कोई चार घंटे वह सोया पूरी नींद, सारी थकावट जाती रही।

फिर उसे नींद नहीं आयी। वह सोचने लगा।

तरह-तरहके विचार,

पादरीकी मेजपर उसने देखी थी चाँदीकी छः थालियाँ और एक बड़ा चम्मच।

ये थालियाँ उसके मस्तिष्कपर छा गयीं। चम्मचके साथ उन्हें बेचा जाय तो २०० फ्रांक तो मिल ही जायगा यानी १९ सालकी कमाईका दूना।

घंटे भरतक वह इसी बातपर सोचता रहा। घड़ीने तीन बजाये। उसे लगा मानो वह कह रही है—'उठ न जा !'

वह धीरेसे उठा। पलभरको झिझका। फिर हौले-हौले आगे बढ़ा। हाथमें उसने लोहेका एक बरमा ले लिया। साँस रोककर उसने धीरेसे पादरीके दरवाजेको हाथ लगाया। दरवाजा बंद नहीं था। भीतरसे उड़का भर ही था।

× × ×

जीन वैलजीन कुछ देरतक आहट लेता रहा।

कहीं कोई आवाज नहीं।

उसने दरवाजेको धक्का दिया। वह थोड़ा-सा खुल गया।

कुछ देर वह शान्त खड़ा रहा।

उसने फिर धक्का दिया।

दरवाजा खुल गया, कुछ आवाज भी हुई। वह कुछ ठिठका। पर कमरेमें और आसपास पूरी शान्ति थी।

पादरी अत्यन्त शान्तिपूर्वक गाढ़ी निद्रामें पड़ा था। लगता था मानो उसके चारों ओर एक दैवी प्रकाश-सा फैला हुआ है।

जीन वैलजीनने ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था। वह हक्का-बक्का-सा सन्न खड़ा रहा। उसे भीतर-ही-भीतर डर-सा लगने लगा। वह बहुत अशान्त-सा हो उठा।

उसने पादरीपरसे अपनी आँखें नहीं उठायीं। वह क्या करे, यह उसकी समझमें नहीं आ रहा था। बुरी और अच्छी दो प्रकारकी भावनाएँ उसके अन्तस्तलमें संघर्ष कर रही थीं। ऐसा लगता था मानो वह यह सोच रहा था कि मैं इस लोहेके बरमेसे इसका सिर फोड़ दूँ या पलंगसे नीचे लटकनेवाला इसका हाथ चूम लूँ।

कुछ मिनटोंमें वह अपना बाँया हाथ सिरके पास ले गया और उसने अपना टोप उतार लिया। कुछ देर टोपको हाथमें लिये रहा और सोचता रहा।

अचानक उसने अपना टोप सिरपर लगा लिया और तेज़ीसे आगे बढ़कर उसने पादरीके सिरहाने रक्खी अलमारी खोलकर चाँदीकी थालियाँ निकाल लीं। तेजीसे, बिना आहट किये कमरेके बाहर निकल गया। अपने कमरेमें जाकर उसने बरमा फेंका। डंडा लिया, थैला उठाया, उसमें थालियाँ डालीं, थालियोंकी टोकरी बगीचेमें फेंक दी और बगीचेमें दौड़ गया। चीतेकी भाँति बगीचेकी दीवाल फाँदकर वह बाहर हो गया।

× × ×

(३)

सबेरे पादरी विनवेनू बगीचेमें टहल रहा था कि मैगलोयर-ने आकर पूछा 'पादरी बाबा, आपको पता है कि चाँदीवाली टोकरी कहाँ है ?'

'हाँ, वह क्या पड़ी है, उस फूलके पौधेपर ।' कहकर पादरीने उसे उठाकर दे दिया ।

'पर उसमें चाँदी तो है ही नहीं !' मैगलोयर बोली ।

'तो तुम्हें चाँदीकी चिन्ता है ? मैं उसके बारेमें कुछ नहीं जानता ।'

'हे भगवन् ! चाँदीकी थालियोंकी चोरी हो गयी । रात-को जो आदमी आया था, वही दुष्ट चुरा ले गया ! पादरी बाबा, चाँदीकी चोरी हो गयी !'

पादरी थोड़ी देर शान्त रहा । फिर बोला—'अच्छा यह तो बताओ कि क्या यह चाँदी हमारी थी ?'

मैगलोयर चुप रही ।

पादरी फिर बोला—'श्रीमती मैगलोयर, मैं जबरन इस चाँदीको बहुत दिनोंतक अपने पास रोके रहा यह तो गरीब लोगोंकी थी । यह आदमी कौन था ? गरीब ही था न ?'

'हाय, हाय !' मैगलोयर बोली 'हम अब खायेंगे किसमें ?'

पादरीने चौंककर कहा—'क्यों हमारे पास टीनकी थालियाँ नहीं हैं क्या ?'

'टीनमें तो बास आती है पादरी बाबा !' कंधा झटकारते हुए वह बोली ।

'अच्छा तो लोहेकी थालियाँ सही !' पादरी बोला ।

'लोहेकी थालीमें लोहाँयद आती है ।'

'तो फिर, लकड़ीकी थालियाँ सही !'

थोड़ी देरमें ये लोग नाश्तेको बैठे, तभी किसीने दरवाजा खटखटाया ।

'आइये'—विशपने कहा ।

दरवाजेपर पुलिसके तीन जवान थे और चौथा था जीन-वैलजीन, जिसे वे गलेसे पकड़े हुए थे ।

उनमें एक जो पुलिसका सरदार-सा था, आगे बढ़कर बोला—'मोंसेनोयर (श्रद्धेय)—'

जीन वैलजीन सिर झुकाये था, पर इस सम्बोधनसे कुछ चकराता-सा बोला—'तो क्या यह क्यूरे—(छोटा पादरी) नहीं ?'

'चुप रह' वह बोला 'ये श्रद्धेय बड़े पादरी हैं, विशप !'

पादरी तबतक उठकर धीरे-धीरे वहाँ आ गया और जीन वैलजीनकी ओर देखकर बोला—'ओह, आप हैं । आपको देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई । पर ! मैंने तो वे दोनों शमादान भी आपको दिये थे । वे भी तो इन्हींकी तरह चाँदी-के हैं और उनसे २०० फ्रांक मिल जायेंगे । आप थालियोंके साथ उन्हें क्यों नहीं ले गये ?'

जीन वैलजीनने आँखें खोलकर ऐसी दृष्टिसे विशपकी ओर देखा जिसका वर्णन करना असम्भव है ।

'श्रद्धेय' वह कांस्टेबल बोला—'तो इस आदमीका कहना सही है ? हमने देखा कि यह भाग रहा है, तभी हमने इसे गिरफ्तार किया । इसके पास चाँदीकी ये थालियाँ थीं ।'

विशपने मुसकराकर कहा—'और इसने आपसे यह कहा कि उस भले बूढ़े पादरीने मुझे थालियाँ दी हैं । मैं समझा, इसकी यह बात सुनकर आप इसे यहाँ लौटा लाये ? यह सब गलत है ।'

'यदि ऐसा है, वह बोला' तो हम इसे छोड़ सकते हैं ।'

'जरूर ।'

पुलिसने जीन वैलजीनको रिहा कर दिया । वह भुनभुनाया—'क्या यह सही है कि पुलिसने मुझे छोड़ दिया ।'

'हाँ ! तुम जा सकते हो ।' कांस्टेबल बोला—'तुम इतना नहीं समझते ?'

'मेरे मित्र'—पादरी बोला—'पर जानेसे पहले अपने दोनों शमादान भी लेते जाइये ।'

पादरी दोनों शमादान उठा लाया ।

जीन वैलजीनका अङ्ग-अङ्ग काँप रहा था । उसने दोनों शमादान ले लिये ।

'अब'—पादरीने कहा—'आप शान्तिपूर्वक जाइये । हाँ, मेरे मित्र, अब कभी आइये तो बगीचेसे होकर आनेकी जरूरत नहीं । आप जब चाहें तब बाहरके ही दरवाजेसे आ-जा सकते हैं । उसमें रात-दिन मामूली चिटखनी लगी रहती है ।'

तब पुलिसकी ओर देखकर पादरी बोला—'महाशय, आपलोग जा सकते हैं ।' तीनों कांस्टेबल चले गये ।

जीन वैलजीनकी हालत ऐसी हो गयी मानो वह अभी बेहोश होकर गिर जायगा ।

पादरीने उसके पास जाकर धीरेसे कहा—'भूलियेगा नहीं । आपने मुझसे वादा किया है कि आप ईमानदार आदमी बननेके लिये इस चाँदीका उपयोग करेंगे ।'

जीन वैलजीनको ऐसे किसी वादेकी याद न थी । वह घबरा रहा था । पादरी फिर बोला—'जीन वैलजीन, मेरे भाई ! अब आपको कोई बुरा काम नहीं करना है । अच्छा ही काम करना है । मैं आपकी आत्माको खरीद रहा हूँ । बुरे विचारोंसे छुड़ाकर मैं उसे ईश्वरको अर्पण कर रहा हूँ ।'

× × ×

जीन वैलजीन नगरसे इतनी तेजीसे बाहर निकला, मानो

वह छिपकर भाग रहा हो। वह खुले मैदानमें जानेको उत्सुक था। उसने भोजन नहीं किया था, फिर भी उसे भूख नहीं थी। वह भीतर-भीतर कुढ़ रहा था, पर किसपर, यह उसे भी पता नहीं था। वह पकड़कर जेल भेज दिया जाता तो शायद उसके चित्तमें इतनी अशान्ति न होती।

उसके मनमें ऐसे-ऐसे विचार आ रहे थे जिनकी कि उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

वह जंगलमें पगडंडीसे थोड़ा हटकर झुरमुटके पीछे बैठा था। नगरसे वह कोई ९ मील गया होगा। अल्प्सकी पर्वतश्रेणी उसके सामने थी।

तभी उसे ग्यारह-बारह सालका एक लड़का गाता-बजाता पगडंडीपर आता दिखा। हाथमें कुछ सिक्के लिये था वह, जिन्हें वह लगातार उछालता जा रहा था। चालीस सूका एक सिक्का उसके हाथसे गिरा और जीन वैलजीनकी दिशामें बढ़ गया।

सिक्केकी खनकसे जीनका ध्यान उसकी ओर गया। उसने उसपर अपना पैर रख दिया।

लड़केने उस सिक्केको उधर लुढ़कते देखा। वह जीनके पास जा पहुँचा और बोला—'महाशय, मेरा सिक्का!'

'क्या नाम है तुम्हारा?'

'पेतित गर्वेस, महाशय।'

'भागो यहाँसे!' जीन वैलजीनने उसे डपटा।

'महाशय, मेरा सिक्का मुझे दे दीजिये।'

जीन वैलजीनने सिर झुका लिया। कोई उत्तर नहीं दिया।

लड़का फिर बोला—'महाशय, मेरा सिक्का!'

जीन वैलजीन चुप।

लड़केने उसका पैर उचकाकर सिक्का उठा लेनेकी कोशिश की, फिर पिनपिनाते हुए कहा—'जरा अपना पैर उठा लीजिये महाशय, मैं अपना चाँदीका सिक्का निकाल लूँ।'

जीन वैलजीनने अपना सिर उठाकर आश्चर्यसे लड़केकी ओर देखा, फिर अपना हाथ डंडेकी ओर ले गया और भयंकर आवाजमें कहा—'कौन है तू?'

'मैं हूँ महाशय, पेतित गर्वेस! मेहरबानी करके मेरा ४० सूका सिक्का मुझे दे दीजिये! अपना पैर उठा लीजिये।' वह बोला।

'तू अभी भी नहीं गया यहाँसे!' जीन वैलजीनने ऐसा कहा और उठने लगा पर उसने अपना पैर नहीं हटाया। लड़केको डपटते हुए बोला—'भागता है कि मरम्मत करूँ तेरी?'

लड़केने भयभीत होकर उसकी ओर देखा। फिर वह सिरसे पैरतक काँपने लगा और बड़ी तेजीसे उसने भागना शुरू किया। न तो उसने पीछे मुड़कर ताकनेकी हिम्मत की और न रोनेकी।

थोड़ी दूर जाकर वह साँस लेनेको रुका। जीन वैलजीनको लगा मानो वह लड़का फफक-फफककर रो रहा है।

कुछ मिनटोंमें वह लड़का वहाँसे चला गया। उधर भगवान् भास्कर भी अस्ताचलगामी हुए।

अँधेरा बढ़ने लगा। रातकी ठंडी हवा मानो काटनेको दौड़ने लगी। जीन वैलजीनने टोप सम्हाली। अपने बटन कसे और आगे क़दम बढ़ाया। अपना डंडा उठानेको वह आगे झुका, तभी उस ४० सूके सिक्केपर उसकी नजर पड़ी। चाँदीका वह सिक्का कंकड़ोंमें आधा छिपा पड़ा था और दूरसे चमक रहा था। जीन वैलजीनको लगा मानो बिजलीके तारसे वह छू गया हो।

'क्या है यह?' ऐसा कहकर वह उसकी ओर एकटक दृष्टिसे देखने लगा।

कुछ मिनटोंके बाद उसने उछलकर उस सिक्केको उठा लिया। उसे पकड़ा और सामने दूर अन्तरिक्षतक अपनी नज़र दौड़ायी। खड़े-खड़े वह ऐसा काँपने लगा मानो कोई भयभीत हिरन आश्रयकी खोजमें हो।

आसपास कहीं कोई नहीं। चारों ओर अन्धकार घना होता जा रहा था। 'ओह' कहकर जीन वैलजीन तेजीसे आगे बढ़ा। कोई ३० कदम जाकर वह पूरी ताक़तसे चिल्लाया—'पेतित गर्वेस, पेतिस गर्वेस!'

कहीं कोई आवाज नहीं।

वह फिर तेजीसे आगे बढ़ने लगा। दौड़ने ही लगा। बार-बार वह 'पेतित गर्वेस! पेतित गर्वेस' कहकर पुकारता जाता था, पर कहींसे कोई आवाज नहीं आती थी।

तभी उसे एक घुड़सवार पादरी मिला।

'आपने कोई लड़का इधरसे आते देखा है, पादरी महाशय!'

'नहीं'!

'पेतित गर्वेस उसका नाम था।'

'मैंने किसीको नहीं देखा।'

जीन वैलजीनने पाँच-पाँच फ्रांकके दो सिक्के निकालकर पादरीको दिये और बोला—'पादरी महाशय, गरीबोंके लिये ये दो सिक्के ले लीजिये। महाशय! वह लड़का बारह सालका था। बाजा लिये था। इधरसे ही तो गया है। देखा है आपने। 'मैंने नहीं देखा।'

जीन वैलजीनने फिर पाँच-पाँच फ्रांकके दो सिक्के पादरीको देते हुए कहा—'आपके गरीबोंके लिये!' फिर जंगलीकी तरह वह बोला—'पादरी महाशय! मुझे गिरफ्तार करा दीजिये, मैं लुटेरा हूँ।'

पादरीको कुछ भय लगा। उसने घोड़ेको एड़ लगायी और चम्पत हो गया।

जीन वैलजीन फिर उसी दिशामें दौड़ने लगा, जिधर पेतित गया था। वह चलता जाता था और 'पेतित गर्वेस' कहकर जोर-जोरसे पुकारता जाता था। पर उसे कोई नहीं मिला और न किसीने उसकी पुकारका उत्तर ही दिया।

अन्तमें एक तिराहेपर वह खड़ा हो गया। उगते चन्द्रमाके प्रकाशमें उसने दूरतक दृष्टि डाली, पर कहीं कोई न था। उसने फिर आवाज लगायी, पर कोई उत्तर न मिला।

यह उसका अन्तिम प्रयत्न था। उसके घुटने झुक गये, जैसे किसी अज्ञात शक्तिने उसे घूँसा लगाया हो। वह एक भारी पत्थरपर धम्मसे बैठ गया। उसने अपनी गर्दन घुटनोंपर रख ली, हाथोंसे अपनी खोपड़ी थाम ली और कहा—'हाय, मैं कैसा नराधम हूँ! कैसा दुष्ट!'

उसका हृदय भर आया। आँखोंसे आँसू बहने लगे। उन्नीस वर्षमें यह पहला अवसर था जब वह रोया।

जीन वैलजीन जब बिशपके घरसे निकला था, तब उसका 'मूड' ऐसा था जैसा कि उससे पहले कभी नहीं रहा था। उसके हृदयमें विचारोंका जो झंझावात मचा था, उसे वह समझ पानेमें असमर्थ हो रहा था। उसे ऐसा लगा कि इस पादरीका क्षमादान उसपर किया गया तीव्रतम प्रहार था। उसके हृदयमें उसकी अपनी दुष्टता और बिशपकी साधुताके बीच एक भयंकर युद्ध छिड़ गया।

एक मतवालेकी भाँति वह भावावेशमें पड़ा था। उसके भीतर दो प्रकारकी भावनाओंमें द्वन्द्व छिड़ा था—'मैं अच्छा बनूँ कि बुरा? ऊँचा उठूँ तो मुझे बिशपसे भी ऊंचा उठना है और नीचे गिरना है तो दुष्टसे भी दुष्ट! अब मैं देवदूत बनूँ या राक्षस?'

दुर्भाग्यने उसे कालेपानीमें भेजा। बाहर आते ही बिशपने उसपर सद्भावोंकी इतनी तेज रोशनी डाली कि उसकी आँखें चौंधिया उठीं। अन्धकारके बाद इतना तीव्र प्रकाश!

एक बात तय थी और वह भी इस बातको मंजूर कर रहा था कि अब वह पहलेवाला आदमी नहीं है। वह एकदम बदल चुका है। बिशपने अपनी वाणीसे, अपने स्पर्शसे उसका हृदय परिवर्तन कर डाला है।

और इसी विचारधारामें जब वह बह रहा था तभी उसे मिल गया पेतित गर्वेस।

उसका ४० सूका सिक्का उसने चुरा लिया।

क्यों?

उसके पास इसका कोई जवाब नहीं था। शायद यह उसके भीतर रहनेवाली दुर्भावनाकी अन्तिम चेष्टा थी, उसके भीतर छिपे पशुका अन्तिम प्रयत्न था। चोरी उसने नहीं की थी, वह की थी उस पशुने जो स्वभाव और प्रेरणाके वश होकर यह भी भूल गया था कि वह है कौन? जब उसकी चेतना जाग्रत् हुई, विवेकने आँखें खोलीं तो वह तीव्र मानसिक संतापमें जकड़ गया और विकल होकर रो पड़ा।

उसके इस अन्तिम कुकृत्यका उसपर निर्णयात्मक प्रभाव पड़ा। आत्मविश्लेषण करनेके पहले उसने पलायनवादी व्यक्तिकी भाँति इस बातकी चेष्टा की कि वह उस लड़केको खोज करके उसका सिक्का लौटा दे। पर जब उसने देखा कि ऐसा करना सर्वथा असम्भव है तो उसकी आत्मा उसे बुरी भाँति धिक्कारने लगी। जीन वैलजीनकी नंगी तस्वीर आ खड़ी हुई उसके सामने। तब वह यह कहकर रो पड़ा कि 'हाय, कैसा नराधम हूँ मैं!'

उसे लगा मानो उसके सामने एक विद्युत्पुञ्ज खड़ा है। गौरसे देखनेसे उसे ऐसा जान पड़ा कि वह बिशप है। पादरीका यह चित्र उत्तरोत्तर निखरता गया और जीन वैलजीनको अभिभूत करता गया!

उसके आँसू थमनेका नाम ही नहीं ले रहे थे। भला कोई स्त्री क्या ऐसा रोयेगी? कोई बच्चा क्या ऐसा रोयेगा?

वह ज्यों-ज्यों रोता जाता था, उसका मस्तिष्क अधिकाधिक स्वच्छ होता चला जा रहा था, उज्ज्वल होता चला जा रहा था। पश्चात्तापके आँसुओंमें उसके पाप, उसके अपराध, उसके कुत्सित भाव धुलते जा रहे थे।

उसके पिछले जीवनका घिनौना स्वरूप बिशपकी क्षमाके प्रकाशमें धीरे-धीरे मिटता चला जा रहा था। उसके नेत्रोंके समक्ष ऐसा प्रकाश था जिसका कि इससे पहले कभी उसने दर्शन ही नहीं किया था।

वह अपने जीवनकी ओर देखता था तो वह उसे भयंकर प्रतीत होता था; आत्माकी ओर देखता था तो वह भयभीत लगती थी। हाँ, उसके जीवन और आत्मापर एक मन्द-मन्द प्रकाश अवश्य छाता जा रहा था। उसे ऐसा लग रहा था मानो कि वह स्वर्गके प्रकाशसे शैतानकी ओर देख रहा था।

इस प्रकार वह कितनी देरतक रोता रहा। रोनेके बाद उसने क्या किया? वह कहाँ चला गया? इन बातोंको कोई नहीं जानता। इतना पता चला है कि रातको तीन बजेके करीब एक ठेलेवालेने द········नगरमें पादरी विनवेनूके दरवाजेके सामने सड़कपर एक आदमीको झुका हुआ अवश्य देखा—प्रार्थना करते हुए *।'

* विक्टर ह्यूगोकी अमर रचना 'ला मिजरेबल्स' के प्रथमखण्डके द्वितीय अध्यायका सारांश।

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ७९८ से आगे]

वैज्ञानिक व्यूह-रचना

आधुनिक मेडिकल साइंसने किस चमत्कारिक संजीवनीका आविष्कार किया है और दुनियाका उससे कितना उपकार हुआ है ? जन-साधारणसे ऐसा प्रश्न किया जाय तो उत्तरमें दुनियामें बढ़ते हुए रोगोंका चित्र सामने आ जायगा। किसीके मसूड़ोंमें सूजन है, दाँत कमजोर हैं, किसीको जुकाम बना रहता है, किसीको सिरदर्द रहता है, किसीकी हड्डीमें बुखार बना हुआ है, किसीको दिल-धड़कनकी बीमारी है, दर्द होता है, किसीका दम फूलता है, फेफड़े कमजोर हैं, जी मचलाया करता है, अरुचि है, पेट गुड़गुड़ाता है, ऊर्ध्व-वायु होती है, कब्ज रहता है, पेशाबमें शक्कर जाती है, पेशाब नहीं उतरता, किसीने ऑपरेशन कराया था, अब उससे पेशाब लगातार बहता रहता है, किसीने जुकाम-बुखार रोकनेके लिये जीवन-भरमें अबतक एक मन कुनैन खायी है—अब वे बहरे हो गये हैं, कोई कंकालरूप दीख रहा है, उसमें छोटी उम्रमें ही मांस-रक्त नहीं रह गया, जन्मसे ही दिल-फेफड़े कमजोर हैं, किसीकी हड्डी कमजोर है, हड्डियाँ चटखती हैं, कुनैन देनेसे माताका दूध सूख गया है और बच्चेको डब्बेमें बंद, बाजारू बिलायती दूध-पाउडरपर पाला जा रहा है, अमुक गर्भवतीमें खून न होनेसे कंकाल बन रही है और प्रसवके समय माँका या बच्चेका प्राणान्त हो जाता है। वैज्ञानिक लोग समय-समयपर नयी चमत्कारिक दवाओंका अखबार और रेडियोपर प्रचार करते हैं—रोग-निरोधके लिये नये-नये टीके, हरेक रोगके इलाजके लिये इंजेक्शन बनते जा रहे हैं, कोई इन्सुलिनकी चर्चा करता है, कोई सुल्फा और एंटि बायोटिककी महिमा बखानता है, कोई बिजलीसे इलाज और चीर-फाड़में कुशलता और किसीने संजीवनी इंजेक्शनका निर्माण किया है। क्षयरोग और कैंसर आजके युगकी बड़ी समस्याएँ हैं, इनकी रोक-थामके खोज-प्रयोगके लिये धन दो। इतने चमत्कार आविष्कार होने और रोक-थामके व्यापक अभियान होनेपर भी दुनियामें पचास लाख लोग क्षयसे मरते हैं और पाँच करोड़ रोगी बने ही रहते हैं। दुनियामें क्षय रोगके विख्यात विशेषज्ञ और अधिकारी डा० डुबोसका मत है कि "यह रोग मनुष्यके व्यक्तिमत जीवनचर्या और समाजमें व्यवस्थागत दोषोंका परिणाम है—' 'Consequence of gross defects in social organization and of errors in individual behaviour.' Man can eradicate it without vaccines and drugs by integrating biological wisdom into social technology, into the management of everyday life."

मनुष्य अपनी दैनिकचर्या और समाज-व्यवस्थाको सुधारकर इस रोगको किसी दवा, टीका या इंजेक्शनके बिना ही दूर कर सकता है।

क्या ये रोग कोई आसमानी भूत हैं, तूफान हैं जो हवामें उड़ते-फैलते संसारमें मानवका शिकार करते हैं ? और वैज्ञानिक चमत्कारिक दवाओं और टीकोंमें क्या दम है कि इन तूफानोंको वे नहीं रोक सकते। १९५६ के पूर्वार्द्धमें जर्नल ऑफ अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशनमें डॉ० रोजेन्थालने स्पष्ट लिखा था—'याद रक्खो कि किसी भी रोगको बिल्कुल रोका नहीं जा सकता।' 'It should be borne in mind there is no disease against which absolute immunity can be achieved.'

कोरियाकी फौजोंमें तूफानकी तरह चेचक फैला और वैज्ञानिकोंने अपने हाथ-पाँव-सिर पटककर चेचक रोकनेके साधन किये, पर रोक न सके, इसी अनुभवके बलपर रोजेन्थालने उक्त वाक्य कहा।

ब्रिटिश मेडिकल जर्नलके ५ मई १९५६ के अङ्कमें इसकी पुष्टिमें लिखा था कि हालैण्डमें किसी भी बच्चेको चेचकका टीका नहीं लगा था। डेनमार्कमें सात वर्षसे कम उम्रके कुछ बच्चोंको तथा स्कूलके सभी बच्चोंको चेचकका टीका लगा था। फिर भी दोनों देशोंके बच्चोंमें चेचककी रोक-थाम प्रायः बराबर थी। Yet the fall in morbidity is of the same degree in vaccinated and non-vaccinated groups. और ब्रिटिश मेडिकल जर्नलके २८ अप्रैल १९५६ के अङ्कमें लिखा था कि किसी नयी चमत्कारिक दवाके आविष्कारसे उसका प्रयोग आरम्भ हो जानेपर उसका प्रभाव-चक्र चल

पड़ता है, पहले तो तूफानकी तरह उसका व्यापक प्रचार हो जाता है, फिर उसका रिवाज बन जाता है, फिर प्रतिक्रियामें कुप्रभाव अनुभव होनेसे वह पुरानी समझी जाने लगती है, फिर उसके बदले नयी दवा आती है, जिसे लोग पहले संजीवनी मानकर खाते-पीते थे, वह अब रद्दी मानकर कचरेमें फेंक दी जाती है अथवा साधारण श्रेणीमें रहती है, इसके सेवनसे लोगोंमें आदत पड़ जाती है, दवा न मिलनेसे बेचैनी और आकस्मिक दुर्घटनाएँ हो जाती हैं; दवा बदनाम हो जाती है; इतना कुप्रभाव देखकर भी नयी दवाओंका कुचक्र चलता ही रहता है। "On the appearance of any new drug an interesting cycle of events may often be observed. A trickle of favourable reports develops into a stream, and the drug then becomes fashionable. Then the stream dries up and is replaced by one of another kind. Therapeutic failures, undesirable side effects, addiction and accidents claim attention. The drug falls into relative disrepute and its use may even be abandoned. However, it will usually maintain some place in the medical armoury... what was once a cure-all and later something useless or dangerous, ends by moderately being helpful......the cycle can hardly be called a vicious circle......though it may develop vicious qualities." फिर दवाओंकी यथार्थ उपयोगिताका कबतक कितना भरोसा किया जाय ?

निर्भय सत्य

प्रमाणित डॉक्टरी अखबार लंसेट २६ मई १९५६ में एंटि बायोटिक दवाइयोंके विषयमें कीटाणुवादी सिद्धान्त और आधुनिक डॉक्टरी इलाजको तिरस्कृत करते हुए निर्भय शब्दोंमें सम्पादकने लिखा है कि "अब हमें चिकित्साकी पुरानी 'कीटाणु मारो' की अज्ञानी पद्धतिको तिलाञ्जलि दे देनी चाहिये। बुखार या किसी उत्तेजक बीमारीमें डॉक्टर रोगीके खूनमें रहे हुए खटमलों (कीटाणुओं) पर जो धावा किया करते हैं, अब मालूम हुआ है कि ये कीटाणु वास्तवमें कोई नुकसान नहीं पहुँचाते।" आगे चलकर सम्पादकने लिखा है कि 'अनेक प्रकारके कीटाणु अस्पतालोंमें ही परस्पर सम्पर्कसे फैलते हैं, उनसे सावधान रहना चाहिये।' "Certainly it is time that we abandoned the naive ignorance which underlies the apparently common assumption that the best thing a doctor can do for a febrile or potentially febrile patient is to 'hit his bugs hard.' Most of these miscalled creatures are harmless when they are left among plenty of others of their kind, to the rich, natural anti-bacterial sources of the human body.......If we were anxious to do a bacteriological good deed where none is required, we should be far less likely to spread harm of a kind that it may soon prove impossible to control.

These infections in hospitals are not only a cause of ill health, lost time and wasted money but also a source from which a veritable epidemic of staphylococcal infections may spread to the general public.

मृगजाल

पाठको, जरा अपना दिमाग खुजलाइये। केवल एक शरीरमें कीटाणुओंकी हत्या करनेके लिये विष-संचारमात्रसे काम नहीं चल जाता। इस सिद्धान्तसे तो विष-निर्माणका व्यवसाय चल चुका, इसकी जंजीर लंबी हो चली, इसको तोड़े कौन ? नयी दवाइयाँ बनाकर इस जंजीरपर नये रंग चुपड़े जाते हैं, लोहेकी जंजीर चाँदी-सोनेकी दिखने लगती है, इसको तोड़नेमें तो व्यवसाइयोंकी रोटी टूट जायगी। स्वास्थ्य केवल एक व्यक्तिकी सम्पत्ति नहीं है और दूषित वातावरणमें रहकर वह अकेले स्वास्थ्य नहीं प्राप्त कर सकता। जब कि गंदे वातावरण और रिवाजका प्रभाव सभीपर पड़ता है तो एक व्यक्ति उससे कैसे बच सकता है ? और वह अकेला भागकर दूर कहाँ जाय जहाँ समाज न हो, और उसकी गुजर कैसे हो ? देखिये, इस सम्बन्धमें भोजन-पानी, साग, फल, दूध आदिकी उत्पत्तिपर विचार कीजिये। शुद्ध खाद्य स्वस्थ-तत्त्वोंका प्रचार तो किया जाता है परंतु वे हैं कहाँ ? हरेक व्यक्ति अपनी ढाई चावलकी खिचड़ी इस वैज्ञानिक युगमें नहीं पका सकता, ये सब पदार्थ अन्य विभिन्न उत्पादक क्षेत्रोंसे हमें प्राप्त होते हैं। अन्न-साग-फल स्वस्थ शुद्ध दशामें हमें तभी प्राप्त होंगे, जब कि वे उन सबको पैदा करनेवाली भूमि, जल,

वायु शुद्ध स्वस्थ हों, परंतु यहाँ वैज्ञानिक व्यवसायद्वारा रासायनिक खादोंके उपयोगपर सरकार जोर देती है, 'अधिक अन्न उपजाओ', फसलोंपर कीटाणुनाशक दवाइयाँ धुआँधार बरसायी-छिड़की जाती हैं, पानीमें भी फ्लोरिन मिलाया जाता है, वातावरणमें डी. डी. टी. आदि अनेक रसायन फैलाकर मक्खी-मच्छरोंको मारा जाता है। शुद्ध हवा, पानी, जमीन, धूप जब पौधोंको नसीब नहीं, तब मानव विष-मिश्रित पदार्थ छोड़कर क्या खाये-पीये ? मछलियाँ तो गंदे समुद्रके कीटाणु हैं ही, मांस देनेवाले पशुओं, मुर्गियोंको भी मोटा करने और अधिक कीमत पानेके लिये 'हारमोन तथा एंटि बायोटिक' दवाइयाँ खिलायी जाती हैं, गायों-भैंसोंको भी अधिक दुधार बनानेके लिये अनेक प्रकारके प्रयोग उनपर किये जाते हैं, मांसको लाल ताजा बनाये रखने तथा दूधको निर्दोष और बाजारू, पैकबंद भोजनमें मक्खन, रोटी आदिमें भी रासायनिक रंग आदि मिलाये जाते हैं तो हमारा खून शुद्ध बलवान् कैसे रहे ? 'लंसेट' के २६ मई १९५६ के अङ्कमें एक सर्जनने लिखा था कि 'नार्वे-स्वीडन'में पित्ताशयके रोग बढ़ रहे हैं, गोटनवर्गके अस्पतालमें सन् ५४ में एक हजार पित्ताशयके ऑपरेशन करके काट निकाल फेंक दिया गया जब कि उसके पहले साल केवल दो सौ ऑपरेशन हुए थे। डॉक्टरी क्षेत्रमें बातोंसे मालूम हुआ कि यह रोग फिनलेण्ड-से अराम्भ होकर फैला है। इसका कारण मारगरीन (मछलीके तेलसे बना हुआ, भारतीय वनस्पति—मूँगफली और तिल्लीका जमाया हुआ तेलका सौतेला भाई) पर शंका दौड़ती है। नार्वे-स्वीडनमें होनेवाला सब मक्खन विदेशोंको निर्यात कर दिया जाता है और वहाँके लोगोंमें मारगरीन—मछलीका शुद्ध जमाया तेल खानेका रिवाज हो गया है।'

बुरे फँसे

दवाइयों, अस्पतालों, खेती, बागवानी, अन्न, दूधके बाद अब चलिये, डॉक्टरसे मुलाकात करें। डॉक्टरके यहाँ देखिये, मरीजोंकी बड़ी भीड़ है, जैसे कि पर्वोंमें देवमन्दिर-द्वार या सिनेमाका टिकट लेने, रेलमें, बसमें चढ़े मुसाफिरोंकी भीड़ होती है। लगभग दस प्रतिशत लोगोंको जुकाम है, लगभग आठ प्रतिशत लोगोंको पुरानी खाँसी है, लगभग ७-८ प्रतिशत लोगोंके टांसिलमें खराबी है, ५-७ प्रतिशतको इन्फ्लुएंजा है, कुछके दिल-फेफड़े रोगी हैं। जैसे रेल-बस-सिनेमा-गृहोंमें खटमलोंका परस्पर स्थानान्तर होता है, उसी तरह एक डॉक्टरको घेरे हुए विभिन्न प्रकारके इन रोगियोंके श्वास-प्रश्वास, छींक-खाँसी आदिसे क्या सूक्ष्म कीटाणुओंका परस्पर आदान-प्रदान नहीं होता ? लोग तो अपने रोगका इलाज-दवा मिक्स्चर लेने जाते हैं और साथमें नये रोगके कीटाणु ले आते हैं। इस प्रकार दवाका व्यवसाय और रोगोंका प्रसार होता है, रोगियोंका धन खर्च होनेके साथ देशका धन भी बरबाद होता है। और, क्या डॉक्टर तथा अस्पतालके कर्मचारियोंको 'सुरखाबके पर' लगे होते हैं कि उनको कोई रोग नहीं होता ? कीटाणु कहाँ नहीं हैं ? रोगी कहाँ नहीं है ? ऐसे वैज्ञानिक जीवन, रासायनिक वातावरण और इलाजसे सारी दुनियाकी भूमि, हवा-पानी, वनस्पति, प्राणी और मनुष्य विषाक्त हो जायँगे, फिर कौन किसका भरोसा और इलाज करेगा ? और इलाजके साधन क्या होंगे ? यह वैज्ञानिक जमाना ऐसा हो रहा है कि पत्थरके कोयलेपर हरी स्याही सींचकर फूल उगाना चाहते हैं, दुनियाको श्मशान बनाकर इसे देवताओंका स्वर्ग बताते हैं। वर्तमान बाल-बच्चोंमें रोग-निरोधक विष-बीज बोकर उन्हें अपंग बना-कर तथा जनसंख्याकी वृद्धि रोकनेके लिये संतति-निरोधके द्वारा स्त्री-पुरुषोंको वन्ध्या-नपुंसक बनाकर ये वैज्ञानिक और सरकारें—दुनियामें किसका चित्र खींचकर अपना मुँह चमकायेंगे ? लन्दनकी एक 'मिस' छुट्टी मनाने इटली गयी थीं, वहाँ उन्होंने सर्राफोंकी दूकानोंमें तथा अन्यत्र भी छिपे हुए 'पोस्टर' देखे, जिनमें लिखा था "I Medici e la Guerra spopolano La Terra" अर्थात् डॉक्टर लोग दुनियाकी आबादी घटा रहे हैं।

भोले शिकार

आधुनिक वैज्ञानिक लोग स्वास्थ्य-साधनके विषयमें उतना कुछ नहीं जानते, जितना कि रोगों और कीटाणुओंके विषयमें; क्योंकि उन्होंने केवल कीटाणुओं, विषों और रोगोंका ही अध्ययन किया है। कीटाणुओं और विषोंकी मानस रक्तमें खेती तथा भूमि-भोजन-पानी और दवाओंसे रोग तो बढ़ते हैं; परंतु उनसे अधिक रोग भयावह धूर्त भाषासे अखबार और रेडियोसे प्रचारद्वारा बढ़ते हैं। दुनियामें हर-एक व्यक्ति वैज्ञानिक या शोधक नहीं है और अपने शरीरकी अन्तरङ्ग प्रणालीके विषयमें सब रहस्य कोई बड़े-से-बड़ा ज्ञानी, विद्वान् भी नहीं जानते; अपने शरीरका ज्ञान न होनेसे हरेक व्यक्ति रोगी होता है और वह ज्ञानी होते हुए भी अन्धज्ञानी, अन्धविश्वासी बनकर डॉक्टरकी शरणमें इलाजके लिये जाता

है और डॉक्टरकी बातें मानता है। दुनियाके सरकारोंमें अधिकांश मन्त्री शासकवर्ग ऐसे ही अज्ञानी होते हैं जो अपने अज्ञान और अन्धविश्वासके कारण गवर्नमेण्ट और जनताको इन वैज्ञानिकोंके उल्लू बनाकर विषाक्त विज्ञानका व्यवसाय बढ़ा रहे हैं। वैज्ञानिक जो कह दें वह लोहेकी लकीर बन जाती है। १९५६ के मध्यमें अमेरिकन कैंसर सोसायटीका समाचार 'न्यूयार्क टाइम्स' में छपा था, 'अमेरिकामें इस साल चार लाख कैंसरके रोगियोंको प्राण-दान मिला। इस रोगसे और भी मरनेवाले आठ लाख लोगोंको बचाया जा सकता है, यदि ये पहलेसे अपना इलाज करा लें। अमेरिकामें चार करोड़ लोग कैंसरके रोगी हैं, अर्थात् वहाँ चारमें एक व्यक्ति इसका शिकार है अतएव पहले ही इसका इलाज कराकर बेफिक्र हो जाना चाहिये।'

शिकारीकी कला

ऐसे घबरा देनेवाले लेख या भाषण पढ़-सुनकर लोगोंका बुरा हाल हो जाता है। यदि गवर्नमेण्ट इस चेतावनीको कार्यान्वित करे तो इसका अर्थ क्या हुआ? इसके ऑपरेशन करनेके लिये कम-से-कम दस हजार डॉक्टरोंकी फौज चाहिये, नर्सें चाहिये, बड़े-बड़े भवन, वैज्ञानिक साधन-सामग्री, रोगियोंके रखने एवं उनके आराम, खान-पानके साधन, स्थान, सामग्री और कर्मचारी चाहिये और डाक्टरोंका काम होगा, उन कथित रोगियोंके अमुक शङ्कित अङ्गोंको काट निकाल फेंकना, अपंग बनाना। इन सबसे क्या लोग स्वस्थ हो जायँगे? इसकी कोई गारंटी नहीं। जो अपंग कर दिया गया उसे पूर्ण और स्वस्थ कैसे कहा जाय? आमदनी और व्यवसाय बढ़ाने, लोगोंको छलकी भाषासे बेवकूफ बनाने और स्वयं सम्मानसहित मौज करनेकी कला है। यह सारी दुनिया इसी प्रकार इस व्यूहमें फँसी है।

कहा जाता है कि इलाजके पहले पूर्णतया निदान कर लेना आवश्यक है। किंतु जीवित शरीरमें सतत होनेवाली क्रियासे शरीरमें क्षण-क्षणमें कैसे भले-बुरे परिवर्तन होते रहते हैं, ऐसी दशामें एक दिन किया हुआ निदान क्या दूसरे दिन वैसा ही कायम रह सकता है, और तब निदान होनेपर क्या इलाज ठीक माना जाय? शरीर तो घड़ीके यन्त्रोंके समान चलता है और कभी भी घड़ी देखकर समय बताना और मानना सत्य नहीं कहा जाता, समय मुँहसे कहते ही घड़ीका काँटा कुछ सेकण्ड आगे बढ़ जाता है अतएव बताया हुआ समय झूठा हो जाता है। ऐसी दशामें निदान और चिकित्साका सामञ्जस्य नहीं बैठ पाता, दोनों ही झूठे हो जाते हैं। निदान तो तभी हो, जब शरीरकी क्रियाएँ स्थायी हों, बंद हों। जीवित लोगोंका निदान कर इलाज करते-करते जब वे मर जाते हैं, तब ऐसे मुर्दोंकी चीर-फाड़ होनेपर अधिकांशमें जो निदान हुआ उससे जीवित अवस्थामें किया हुआ निदान गलत सिद्ध हुआ। डॉ० केबाटने मुर्दोंके निदान करके, ४७ प्रतिशत जीवित निदानोंको गलत पाया। २६ मई १९५६ के ब्रिटिश मेडिकल जर्नलमें एक डॉक्टरने अपने अनुभवके आँकड़े प्रकाशित किये हैं। बढ़िया-से-बढ़िया सम्पन्न अस्पतालमें भी किसी रोगीके निदानपर विश्वास करके इलाज करना अन्धविश्वास मात्र है; क्योंकि जीवित शरीरपर विचारों, भावावेगों, हवा-पानी, आहार, इलाज और मिलने-जुलनेवालोंकी बातों तथा आसपासकी घटनाएँ देखकर सबकी प्रतिक्रिया होती रहती है, भली या बुरी।

स्पष्ट तथ्य

इलाजके नामसे अथवा निदानके हेतु शरीरका रक्त निकालना, एक्स-रे लेना या कुछ खिलाना-पिलाना, इंजेक्शन देना—उसकी स्वाभाविक आत्मरक्षक पद्धतिपर आघात, अपराध करनेके बराबर है, चाहे वह किसी भी प्रकारसे वमन-विरेचन-स्वेदनकी ही क्रिया क्यों न हो। अनाथालय और शालाओंके बच्चोंपर भी जुलाबके प्रयोग सप्ताहमें एक या दो बार, अथवा दिनमें एक या दो बार किये जानेके समाचार हैं। बाल-पालन और स्वास्थ्य-रक्षाके विषयमें माता-पिता और शिक्षक भी उतने ही अज्ञानी होते हैं और रोगोंकी रोकथाम तथा प्रयोगके नामपर ये दोनों अज्ञानवश डॉक्टरकी व्यूह-रचनासे इन्कार नहीं कर सकते। न्यूयार्क टाइम्सके २७ मई १९५६ में वैज्ञानिक चिकित्साकी व्यर्थताको सिद्ध करनेवाला एक समाचार 'विज्ञान समालोचना'के स्तम्भमें प्रकाशित हुआ था कि 'शरीरमें आत्मरक्षक, आत्मचिकित्साकी चमत्कारिक क्षमतासे आश्चर्य होता है, जुकाम तथा अनेक फैलनेवाले रोगोंपर आप ही विजय मिल जाती है, कैंसरपर भी।' अमेरिकन कैंसर सोसायटीने बताया कि 'उसके एक नियुक्त डॉक्टरने कैंसरके प्रमाणित निदानवाले ८८ रोगियोंकी गाँठोंको अपने-आप अच्छे होते देख आश्चर्य किया। डॉक्टर लोग शरीरकी रोग-निरोधक शक्ति देखकर हैरान हो रहे हैं।

'The resistance of the body to disease is astonishing. Colds and infec-

tions of many kinds are fought off. This holds good even for some forms of cancer, which according to scientists is caused by a virus. The American Cancer Society a few months ago announced that one of its grantees after a thorough examination of the record had found at least eighty-eight genuine cases of spontaneous regression of tumours. The resistance of the body to infections and even to cancer has always perplexed and astonished scientists.'

दो मुँह

जब दवाएँ व्यर्थ हैं और शरीर स्वयं अपनी चिकित्सा-रक्षा करनेमें समर्थ है, जैसा कि मनुष्यके अतिरिक्त अगणित जीवोंमें होता देखा गया है, तब दवाकी दासता अन्धविश्वाससे मुक्त करनेके लिये जनतामें इस तथ्यका प्रचार शिक्षाद्वारा करना चाहिये। इसका अनुभव और दृष्टिकोण लेकर, लन्दन डेलीमेल ७ जुलाई ५६ के अङ्कमें डॉक्टरोंकी एक समितिकी सम्मति प्रकाशित हुई थी।

"Doctors decided today to urge the Government to teach everybody from children to old folk more about health and less about sickness, and to save the country millions of pounds on the 'Health Service' which is really a national sickness service."

इतना सब होकर भी किसी बीमारीका कुछ समाचार पाकर डॉक्टर लोग मौका नहीं चूकते, प्रचारकर लोगोंको घबराकर नगद लाभ उठाते हैं। अमेरिकाके 'टाइम' ३० जुलाई १९५६ में बालपक्षाघातका प्रचार करके अभियान-द्वारा अंधाधुंध लाभ उठानेका समाचार छपा है। रेडियो और टेलीविजनपर भी खूब चर्चा हुई कि 'शिकागो और उपनगरोंमें पोलियो फैला है, फौरन इंजेक्शन लगवाकर अपनी रक्षा करो। यह नया रोग किसी नये कीटाणुसे फैला है।' बस! संस्थाओंने टीका लगानेके लिये अपने केन्द्र जगह-जगह कायम कर दिये। ग्यारह हजार सुइयाँ और सिरिंज, दो लाख इंजेक्शनकी बोतलें पहुँच गयीं और इन केन्द्रोंमें लोगोंकी ऐसी खासी भीड़ जुटने लगी कि परस्परकी छाती पीठ, श्वास-श्वाससे कीटाणु भरे वातावरणमें नये रोगका रंग परस्पर-पर चढ़ने लगा। कहा जाता है कि यह रोग अच्छे खाये-पिये हुए सम्पन्न परिवारवालोंको होता है। इनकी छलमयी भाषा देखिये, एक ओर तो भोजनकी गरीबी दूर करनेके लिये भोजन-सुधारकी बात कहते हैं कि खुराक कमजोर होनेसे बीमारी होती है और दूसरी ओर, अच्छे खाने-पीनेवाले सम्पन्न परिवारोंमें रोगका भय दिखलाकर उन्हें भोजनसे भी डराते हैं। एक मुँहसे दो प्रकारकी बातें! किसको पकड़े, किसको छोड़े। इनके सिद्धान्त और दवाएँ बार-बार बदलती रहती हैं। २५ अगस्त १९५६ के ब्रिटिश मेडिकल जर्नलमें एक निष्पक्ष डॉक्टरने अपना विचार लिखा है कि अस्सी वर्ष पहले जिन रोगोंके लिये जो दवाएँ दी जाती थीं वे भुलायी जा चुकी हैं, अतएव आजकी दवाएँ भी क्रमशः लुप्त हो जायँगी। इस चलते-फिरते बहुरूपिये विज्ञान और वैज्ञानिकों-का क्या भरोसा किया जाय। इनकी दवाओंसे मन्दगतिसे नये रोग फैलते हैं, फिर डॉक्टर उन नये रोगोंके लिये नये जहर बनाते हैं और ऐसी ही परंपरा चलती है कि एक झूठ बोलनेपर क्रमशः सैकड़ों झूठ बोलते और गवाह बनाते हैं। इनके इलाज और दवाके बिना कोई मर जाय तो कहते हैं कि इलाज कराया होता तो रोगी बच जाता। परंतु मरते समय ये वैज्ञानिक और डॉक्टर स्वयं अपना इलाज कराकर भी क्यों मर जाते हैं और उनके रोगी भी क्यों मर जाते हैं? इनकी ऐन्द्रजालिक विद्या ऐसी है कि ये स्वस्थको बीमार कर दें और जो न मरता हो उसे इलाजके नामपर जहर देकर मार डालें-और उपकारी बनकर निरपराध बचे रहें। लन्दन डेली एक्सप्रेस २९ अगस्त १९५६ का समाचार है कि लिवर-पूलके डॉक—बन्दरगाहपर कुछ लोगोंको पोलियो हो गया तो जनताका वहाँ जाना और वहाँवालोंको बाहर जाना बंद कर दिया गया। लिवरपूलसे बाहर जानेवाले जहाज रोक दिये गये और बाहरसे आनेवाले जहाजोंको समुद्रमें दूर ही रोक दिया गया। कोई अपने घर-गाँवमें जानेको कहता तो उससे कहा जाता 'ऐसी दशामें आप अपने बाल-बच्चोंमें रोग फैलाने और स्वयं रोगी होने जा रहे हैं? अपनी जानकी खैर मनाइये।'

(क्रमशः)

लड़कियोंका नाच या चरित्रनाश ?

[शिक्षा-मन्त्रियोंसे नम्र निवेदन]

(लेखक—श्रीलक्ष्मणप्रसादजी गुप्त, बी. ए., एल्-एल्. बी., ऐडवोकेट)

यह शायद सबको मालूम होगा कि प्रायः सभी जगह स्कूल और कॉलेजकी कुमारी और जवान लड़कियोंको नृत्य सिखाया जाता है और उन्हें पबलिकमें नचाया जाता है । अंग्रेजोंके जमानेमें स्कूलोंमें पढ़नेवाली हमारी लड़कियाँ कभी कहीं नहीं नचायी जाती थीं । कांग्रेस गवर्नमेण्टके आनेपर कुछ रसिक साहित्यकार सरकारी शिक्षा-कमेटियोंमें शामिल हो गये और उन्होंने लड़कियोंके नाचनेको शिक्षा-कार्यक्रममें शामिल कर दिया । एवं अब तो वह संस्कृतिका एकमात्र स्वरूप बनता जा रहा है ! शुरू-शुरूमें पाँच-सात सालकी लड़कियाँ नाचती थीं और उनका नाच किसीको बुरा भी नहीं लगता था । जब एक बार लज्जाका पर्दा हट गया, तब ये लड़कियाँ बड़ी होकर भी नाचने लगीं । यहींसे पतन प्रारम्भ हुआ और शिक्षा-अधिकारियोंके इशारेपर सांस्कृतिक प्रोग्रामके बहाने मिनिस्टरों और बड़े अधिकारियोंको खुश करनेके लिये इन लड़कियोंको नचाया जाने लगा । मिनिस्टरोंको चाहिये था कि उसी समय वे आदेश जारी कर देते कि स्कूल और कॉलेजोंकी लड़कियोंको पबलिकमें नहीं नचाना चाहिये, परंतु उन्होंने कोई विरोध नहीं किया और वे चुप रहे, जिसका एक बुरा नतीजा यह हुआ कि जो जिला तथा शिक्षा-अधिकारी एवं स्कूलके मैनेजर इन नाचोंको बुरा समझते हैं, वे भी बाध्य होकर इन नाचोंका आयोजन कराने लगे और रसिक अधिकारी मिनिस्टरोंकी इस खामोशीका फायदा उठाकर हर मौकेपर इन नाचोंका आयोजन कराकर आनन्द लूटने लगे । अब तो स्कूल और कॉलेजोंकी जवान लड़कियाँ पूरी सज-धजके साथ और हाव-भावसे परियोंकी तरह पबलिकके सामने नचायी जाती हैं, जिससे—

१—निर्लज्जताका प्रसार होता है ।

२—व्यभिचार फैलता है ।

३—फैशन एवं प्रमादको बढ़ावा मिलता है ।

४—विलासिता बढ़ती है ।

यह तो निश्चय ही है कि नाचनेवाली लड़कियाँ चटक-मटक और फैशनसे रहती हैं । फैशनकी गुलामीके कारण अपनी आमदनीसे अधिक खर्च करने लगती हैं । अपने बच्चोंकी देखभालमें पूरा मन नहीं लगाती हैं । इनके पतियोंका इनके चरित्रमें कोई विश्वास नहीं रहता है और सारा जीवन क्लेशमय हो जाता है ।

यह भी निश्चय है कि विलासिता—बड़े-बड़े पापोंकी जड़ है । विलासितासे वासनाएँ बढ़ती हैं । वासनाओंका कोई अन्त नहीं है । विलासी आदमी घरबार, रोजगारकी देखभाल नहीं कर पाता है और सब चौपट कर देता है । जब रुपया नहीं रहता है, तब वह चोरी करता है, घूस लेता है और असत् मार्गसे धन प्राप्त करना चाहता है ।

विलासी कर्मचारी अपना कर्तव्य पालन नहीं कर पाते हैं, जिसके कारण सरकारी दफ्तरोंमें भ्रष्टाचार बढ़ रहा है ।

विलासी आदमी हृदयहीन भी हो जाते हैं—उत्तर-प्रदेशके इटावा जिलेमें अधिक वर्षा होनेके कारण पिछले अक्टूबरमें किसानोंकी खेती बरबाद हो गयी थी । उनके मकान गिर गये थे, उनके पास खानेको कुछ नहीं रहा था । वे दुःखसे पीड़ित होकर त्राहि-त्राहि कर रहे थे । उन्हीं दिनोंमें वहाँ एक नुमायश की जा रही थी—जिसमें नाचनेके लिये बहुत-सी नाचनेवाली आयीं और

दो फिल्म स्टार दस हजार रुपये खर्च करके बम्बईसे बुलवायी गयीं ।

बहुत-से गृहस्थी सज्जन कॉलिजमें पढ़नेवाली अपनी कुमारी लड़कियोंके पबलिकमें नाचनेसे बहुत दुखी हैं । वे समझते हैं कि उनकी लड़कियोंको सरकार नचाती है और इसलिये वे सरकारको कोसते हैं ।

बुरी बातको लोग जल्दी ग्रहण करते हैं । इधर भले घरोंकी इन बहिन-बेटियोंकी नृत्यकला देखनेका चसका इस कदर बढ़ा है कि अच्छे-अच्छे धर्मप्रचारक, समाज-सुधारक, साहित्यकार, पत्रकार, शिक्षक—सभी चुप हैं, मानो चुपके-चुपके लड़कियोंके नाचोंका आनन्द ले रहे हैं । इतना ही नहीं बहुत-से तो इस सदाचारका सर्वनाश करनेके लिये कालरूपिणी कलाको हर तरहसे प्रोत्साहन दे रहे हैं ।

जहाँ एक ओर सरकारने देशकी खुशहाली बढ़ानेके लिये बहुत कुछ किया है और कर रही है—वहाँ दूसरी ओर जान-बूझकर या अनजानेमें पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रवाहमें बहती स्कूल और कॉलिजोंकी लड़कियोंको नचाकर विनाशकारिणी विलासिताको पूरा प्रोत्साहन दिया है ।

स्कूलोंमें सांस्कृतिक प्रोग्रामोंकी डिवीजन या डिवीजनल रैली करायी जाती है—वहाँ मुख्य तौरसे लड़कियोंके ड्रामा कराये जाते हैं, उनमें बहुत-से अश्लील होते हैं और काम-वासनाको उत्तेजित करते हैं । विदेशोंको जो सांस्कृतिक डेपुटेशन जाते हैं, वे भी वहाँ जाकर भारतवर्षके उच्च आदर्शोंको न दिखाकर केवल नाच-गान ही दिखलाते हैं—मानो भारतवर्षकी संस्कृतिमें और कोई अच्छी बात ही नहीं है ।

अतः मेरा नम्र निवेदन है कि स्कूल-कार्यक्रमोंमेंसे लड़कियोंको नचाना निकाल दिया जाय और आदेश जारी किये जायँ कि स्कूल और कॉलिजोंकी लड़कियोंको किसी बहानेसे कभी और कहीं न नचाया जाय ।

स्नेह-सुमन

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट-ला)

भक्तजनोंके निर्मल मनमें, खिलता हरिका स्नेह-सुमन है ।
है वह स्नेह सुधा वसुधामें, मानवजीवनका जीवन है ॥ १ ॥
उसकी रसमयतासे रंजित, रही सदा मोहनकी मुरली ।
जिसकी मधुर तानने सारे, ब्रजमंडलकी सुध-बुध हर ली ॥ २ ॥
उसके सुधा-स्रोतकी सुधिसे, रही सदा मीराँ मतवाली ।
जिसके अधरोंसे छूते ही, अमृत हुई हलाहल प्याली ॥ ३ ॥
उसकी त्याग-शक्तिकी ही है, पन्ना जगमें अमर कहानी ।
सुतकी बलिका था जिसके, नयनों का ही नीर निशानी ॥ ४ ॥
भरी हुई भावोंसे उसके, नरसीकी रचना रसवाली ।
सुनकर भक्त मस्त हो नाचे, तान तँबूरा पर दे ताली ॥ ५ ॥
व्रज-बनिताके रोम रोममें, उद्धवने उसका रस पाया ।
आया था समझाने उनको, सहज समझसे वह चकराया ॥ ६ ॥
उसकी तन्मयताके सुखमें, सहकर सकल जगत्की बाधा ।
माधवके प्रति मधुर भावको, राधाने जीवनभर साधा ॥ ७ ॥

गीत

(रचयिता—डा० श्रीहरिवंशराम 'बच्चन', एम्० ए०, पी-एच० डी०)

इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

लक्ष्य तुम किसको बनाकर चल पड़े हो
जानता है कौन ?
और पूछे भी न कोई, क्या इसीसे
हो गये हो मौन ?
कब किसे तुमने बुलाया ? बैठ जोही
कब किसीकी बाट ?
किंतु पीछे जा रहे हैं कौन क्या तुमको नहीं है ज्ञात ?
इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

और सोच-विचार निर्णय कब किया
मैंने करूँ प्रस्थान ?
और मेरे वास्ते किसको पड़ी थी
जो करे आह्वान ?
एक मेला जा रहा है, मैं अकेला
ही न जाऊँ छूट,
बस यही कुछ सोच सबके साथ मैं भी हो लिया अज्ञात।
इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

रास्तेमें कौन कंकड़, कौन पत्थर,
कौन कंटक जाल ?
कौन संकट, कौन बंधन तोड़ती
जारी तुम्हारी चाल ?
यह तुम्हारे पाँव जानें, या कि जाने
जो तुम्हारे पास,
अग्रजोंके पद-विनिर्मित पंथ पर मैं चल रहा नतमाथ।
इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

किस जगह मंजिल मिलेगी, या मिलेगा
किस जगह विश्राम ?
यह तुम्हारा और अगले साथियोंका
प्रश्न; मुझसे काम ?
प्रार्थना मेरी यही कोई न छूटे,
गिरे, पिछड़े, राम।
मैं तुम्हारा हाथ हाथों-हाथ पकड़े हाथमें रक्खे हुए हूँ हाथ।
इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

दयालु भाभी

प्रयागके गत कुम्भमेलेकी बात है—हमलोग जहाँ ठहरे थे, वहाँ उसके बगलमें ही एक सज्जन ठहरे थे। उनके साथ उनका दूर सम्पर्कका एक चचेरा भाई तथा एक नौकर था। दो-चार दिन बाद ही उनकी धर्मपत्नी कलकत्तेसे घर जाती हुई कुम्भ-स्नानके लिये पतिके पास आकर ठहर गयी। उसके साथ उसका एक छोटा बच्चा था। वह घर जा रही थी, इससे उसके पास लगभग दस हजारका गहना था, जो एक पीतलके डिब्बेमें बंद था और वह डिब्बा ट्रंकमें रक्खा था। ये बातें मुझको पीछे मालूम हुई। घटना ऐसी हुई कि तीन-चार दिनके बाद ही वह गहनेका डिब्बा चोरी हो गया। ट्रंकका ताला ज्यों-का-त्यों था। किसीने दूसरी चाबी लगाकर ट्रंकसे गहनेका डिब्बा निकाल लिया था। नौकरसे पूछा गया, आसपास खोज हुई पर कहीं पता नहीं चला। बेचारे दम्पति सिर पीटकर रह गये। कुछ दिनों बाद गहने बेचते हुए कानपुरमें एक आदमी देखा गया। उसपर संदेह हुआ। उससे कुछ भले लोगोंने पूछा, पकड़ानेकी धमकी दी। उसने बतलाया कि मैंने तो यह गहना प्रयागमें एक सज्जनसे दो हजारमें खरीदा था। खोज की गयी तो पता लगा कि वह चचेरा भाई ही चोर था। भाईको बहुत गुस्सा आया। उसने पुलिसमें रिपोर्ट करके चचेरे भाईको पकड़वाना चाहा। पर उनकी पत्नीने रोक दिया और चचेरे भाईको बुलाकर पूछनेके लिये कहा। उसे बुलाया गया। वह आकर फूट-फूटकर रोने लगा। उसने नम्रतासे स्वीकार किया कि 'चोरी मैंने की है। लड़कीके विवाहमें दस हजार रुपये लगे थे, उसमेंके साढ़े चार हजार रुपये अभी देने थे। एकका बड़ा तकाजा था, उसके यहाँ दूसरी लड़कीका कुछ जेवर बंधक रक्खा था। रुपयेवाला तकाजा था तथा लड़कीके ससुरालवाले लड़कीको लेने आ गये थे, उसका गहना देना आवश्यक था, इसलिये मैंने गहना चुरा लिया। गहना कितना था—मैंने देखा ही नहीं। मुझे तो रुपयेकी आवश्यकता थी, अतः मैंने उसी दिन दो हजारमें उसे बेचकर रुपये महाजनको भेज दिये। अब आप जैसा उचित समझें करें।' यह सब सुनकर दयामयी उसकी भाभीका हृदय पिघल गया। उसने पतिको समझा-बुझाकर राजी किया। दो हजारमें गहना खरीदनेवालेको बुलाया गया। वह भला आदमी था तथा पुलिससे पकड़े जानेसे डर भी रहा था। उसने दो हजार रुपये तथा उनका उचित ब्याज लेकर गहना लौटा दिया। उन सज्जनने पत्नीके कहनेके अनुसार ढाई हजार रुपये और भी चुकाकर चचेरे भाईको ऋण-मुक्त करा दिया और उसे अपनी फर्ममें अच्छे वेतनपर नियुक्त भी कर लिया। उसने रोम-रोमसे आशीर्वाद दिया। धन्य।

—हरसुखदास गुप्त

(२)

आदर्श मित्र

पुनीत वाराणसीवासी 'दूजो हरिचन्द' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, खड्गविलास-प्रेसके संस्थापक, रेपुरानिवासी बाबू श्रीरामदीन-सिंहजीके परम मित्र थे। भारतेन्दुजी बड़े उदार थे। उनका सदा ही मुक्तहस्त रहता था। इसमें उनकी सारी सम्पत्ति समाप्त हो गयी; बल्कि डेढ़ लाख रुपयोंका ऋण एक सज्जनका रह गया, जिसकी चर्चा उन्होंने अपने भाई-भतीजों या दौहित्रसे भी नहीं की थी।

एक दिन उन्होंने अपने अभिन्न मित्र बाबू रामदीन-सिंहको बुलाकर उनसे और सारी बातें बतायीं और कहा कि 'जिनके रुपये हैं, वे सज्जन कभी मुझसे माँगने नहीं आये। इस कारण मुझे इस ऋणके न चुकानेका और भी बड़ा दुःख है।'

भारतेन्दुके फक्कड़ स्वभावसे परिचित, बाबूसाहबने तुरंत कहा—'अच्छा, तो यह ऋण चुकाना मेरे जिम्मे रहा। आप इसकी तनिक भी चिन्ता न करें। इस ओरसे बिल्कुल निश्चिन्त रहकर भगवत्स्मरण करें।'

बाबू रामदीनसिंहकी डेढ़ लाख रुपयेका ऋण चुका देनेकी बात सुनकर लाखोंकी सम्पत्ति लुटा देनेवाले भारतेन्दुके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये। इसी दशामें उन्होंने कागजका एक टुकड़ा बाबू रामदीनसिंहके हाथोंमें दिया, जिसपर लिखा था—

'मेरी सारी पुस्तकों (१७५) के प्रकाशनका सर्वाधिकार खड्गविलास प्रेसको ही है।'

बाबू रामदीनसिंहने उसे पढ़ा और तुरंत फाड़कर उन्हींके सामने फेंक दिया और कहा—'यह तो मित्रता निभाना नहीं हुआ, व्यापार हुआ।'

ये दोनों आदर्श मित्र धन्य थे।

('पद्मभूषण' आचार्य श्रीशिवपूजनसहायके कथनके आधारपर)

(२ क)

मनके अमीर चपरासी

जिन दिनों १९४७ ई० से ५० तक—मैं शिक्षा-

विभागमें सहायक उपनिरीक्षकके पदपर बलिया जिलेमें ही काम करता था, कुछ हिंदू चपरासियोंके बाद मुझे एक मुस्लिम चपरासी श्री अब्दुल रहमान मिले, जो ठाट-बाटमें मुझसे भी बढ़कर रहते थे। उन्हें देखकर अपरिचित अध्यापक भ्रममें पड़ जाते थे। मुसल्मान सब डिप्टी इन्स्पेक्टरोंसे उनकी पटरी नहीं बैठती थी, पर न जाने क्यों मेरा जूतातक उठाकर सुरक्षित स्थानमें रख देनेमें उन्हें संकोच नहीं था। लड़कोंद्वारा साबुन लगानेमें भूल होनेपर वे मेरे कपड़े भी स्वयं साफ कर देते थे। मैं स्वयं तथा मेरे कुछ साथी उन्हें पहले बड़ा घमंडी समझते थे; परंतु सम्पर्कमें आनेपर हमलोगोंके विचार बदल गये। वे अविवाहित थे। गोलमेज-सम्मेलनके समय किसी अंगरेज अधिकारीके साथ लन्दन भी हो आये थे।

निरीक्षण-कालके दौरेमें नदी पार करनेपर मल्लाहको पैसे अवश्य देते थे, ठीकेदारको भले ही न दें। अनेक बार ऐसा देखनेपर मैंने इसका कारण पूछा—तो कहा, 'मल्लाह गरीब आदमी है, ठीकेदार मालदार है।' मेरी विस्मृतिका रुपया भी उनके पाससे पूरा लौटता था।

बलिया स्टेशनपर सम्पन्न घरानेका एक लड़का मजिस्ट्रेटी चेकिंगमें पकड़ लिया गया। उन दिनोंके मजिस्ट्रेट छात्रोंपर १०१) अर्थ-दण्ड करते थे। लड़केके रोने-गिड़गिड़ानेका कुछ भी प्रभाव उनपर नहीं पड़ा। हुक्म हुआ 'तुरंत रुपया दो या जेल जाओ'। स्टेशनपर सैकड़ोंकी भीड़ थी। लड़का छुटकारा पाते ही तुरंत रुपये मँगा देनेकी बात कहता था, पर किसीके कानपर जूँ न रेंगी। हमारे उक्त चपरासीने साहबसे कहा, 'साहब! हमसे रुपये ले लीजिये और लड़केको छोड़ दीजिये।' साहबने कहा—'तुम इसे पहचानते हो?' चपरासीका उत्तर था—'नहीं'! इसपर साहबने कहा—'तो क्यों रुपये चुकाते हो? वापस नहीं मिलेंगे।' श्रीरहमानका उत्तर था, 'कोई चिन्ता नहीं।' रुपये देकर ज्यों ही लड़का छुड़ाया गया, त्यों ही घरवाले आ गये। रहमानको रुपये मिल गये। परंतु सब लोग उस गरीब, परंतु मनके अमीर चपरासीकी मानवता-को देखकर दंग रह गये। अब्दुल रहमान, अब भी बलिया-शिक्षा-विभागमें चपरासी-पदकी मर्यादा बढ़ा रहे हैं।'

—अध्यापक शिवप्रसादसिंह

(३)

सुन्दर अन्त

प्रायः लोग संशय किया करते हैं कि 'मरनेके समय कर्मानुसार पार्षद, धर्मराजके दूत या यमदूत प्राणीको लेने आते हैं या नहीं और अजामिलकी कथाको पौराणिक गल्प बता देते हैं। नीचे लिखे मेरे प्रत्यक्ष अनुभवसे मुझे तो पूर्ण विश्वास हो गया है कि अवश्य कर्मानुसार दूत आते हैं।

सं० २००१ के मार्गशीर्ष शुक्ला ५ की रातकी घटना लिखता हूँ। महाराज बुद्धसिंहजी बीमार थे। उन्हें Cardial Asthama यानी हृदयरोगसे दमा और बुखार था। शुरू कार्तिकमें वे बीमार हुए थे; परंतु किशनगढ़में डाक्टर-हकीमों-के इलाजसे कोई फायदा नहीं हुआ। मुझे समाचार मिलनेपर मैं किशनगढ़ गया और उन्हें डा० हैलिग (जर्मन हृदय-विशेषज्ञ) का इलाज कराने जयपुर ले आया। डाक्टरने देखकर कहा कि 'मेरा इलाज आज ही शुरू कर दो तो आठ दिनोंमें काफी ठीक हो जायँगे।' परंतु भावी प्रबल है। उनके घर-वालोंको यह जँची कि वैद्यका ही इलाज कराया जाय। मैंने भी सोचा कि 'भावी तो टलेगी नहीं, जिस समय जो होना है, होगा ही, उसे एक सेकेंड भी कोई टाल नहीं सकता।' जयपुरके एक प्रसिद्ध वैद्यका इलाज चला। बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। तीन दिन बाद फिर डाक्टर हैलिगको बुलाया तो उसने कह दिया कि अब इलाज नहीं हो सकता। वैद्यजी-की चिकित्सा चलती रही। मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को वैद्यने भी जवाब दे दिया और डाक्टरने भी कहा कि आजकी रात नहीं निकलेगी। रात होनेपर उनके बड़े लड़के मा० सरदार-सिंहजीको, जो साथ थे, मैंने सो जानेको कह दिया और मैं उनके पास बैठ गया। श्वासकी गति बहुत मंद हो गयी थी और वे अचेत-अवस्थाकी तरह सो रहे थे। रातके बारह बजे करीब कुछ बचपनकी बातें याद आनेसे तन्द्रामें ही बचपनके साथी बालकोंके नाम लेकर, जैसे बचपनमें किया करते होंगे, खेल-कूदकी बातें करने लगे। मैंने यह समझ-कर कि इनके प्रयाणका समय आ रहा है और 'अन्त मता सो मता' उन्हें जगाया। चेतनावस्थामें आनेपर मैंने उनसे कहा "महाराज साहब! इस समय और सब ध्यान हटाओ, 'श्रीनाथजी' 'श्रीनाथजी' कहो।" उनके इष्टदेव या कुलदेव श्रीनाथजी थे, जैसा कि किशनगढ़ राजघरानेमें हैं। उन्होंने आँखें खोलकर मुझे देखा और 'श्रीजी-श्रीजी' पाँच-चार दफा बोलकर रह गये। मैं पलँगके पास बाँयी ओर बैठा उन्हें देखता रहा। अन्तिम श्वास थे। किसी भी समय हिचकी आने या प्राण जानेके लक्षणोंकी सम्भावना देख रहा था। चार बजे सुबह उन्होंने फिर आँख खोली और सिर घुमाकर बाँयीं

ओर दाहिने तरफ देखा और बोले 'थे कुण हो, थे कुण हो । पीताम्बर पहर्‌याँ हो, तिलक लगायाँ हो । ब्राह्मण हो ? मनै लेबा आया हो ? चालू हूँ भाई, चालू हूँ ।' (आप कौन हैं, आप कौन हैं ? पीताम्बर पहने हैं, तिलक लगाये हैं । ब्राह्मण हैं ? मुझे लेने आये हैं ? चलता हूँ भाई, चलता हूँ ।) इतना कहकर हमेशाके लिये आँखें बंद कर लीं । मेरे उनके बड़ा प्रेम था । अतः उनकी मृत्युसे दुःख भी हुआ, परंतु यह सद्‌गति देखकर चित्तको सान्त्वना भी मिली । इस घटनासे मुझे यह विश्वास हो गया कि 'अन्त मता सो मता' और प्राणान्तके समय पार्षद, धर्मराजके दूत या यमदूत अपनी करनीके अनुसार अवश्य आते हैं । तथा यह करनी एक दिन एक महीने नहीं, सारी आयु महाराज बुद्धसिंहजीकी तरह सरल चित्तसे उनका होकर रहे तभी सिद्ध होती है । नहीं तो, अन्त समयमें भगवान्‌का नाम मुँहसे निकलना कहाँ रक्खा है ।

'जनम-जनम मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ।' उन्हें अन्त समयमें न डर लगा, न वे घबराये, न चिल्लाये, न चीखे । शान्तिसे सोते रहे और जैसे गङ्गाकी लहर शान्तिसे आकर विलीन होती है, यह जीवन समाप्त किया । बोलो श्रीराधा-सर्वेश्वरकी जय ! —जैतसिंह (खंडेलाके)

(४)

स्नेहपूर्ण व्यवहार

एक दिन मैं हरगाँवसे ट्रेनद्वारा सीतापुर जा रहा था । दोपहरके लगभग साढ़े बारह बजेका समय था । वर्षा ऋतु थी । जिस समय ट्रेन स्टेशनपर आयी, वर्षा हो रही थी । जिस डिब्बेमें मैं चढ़ा था, उसमें कुछ सम्भ्रान्त घरानेकी लड़कियाँ बैठी थीं ।

जैसे ही ट्रेन चली, उसी डिब्बेमें एक ग्रामीण स्त्री भागते-भागते चढ़ी । उसकी गोदमें एक छोटा बालक था, जो वर्षासे बिल्कुल भींग गया था । उसकी कमीज भीगी होनेके कारण उस स्त्रीने निकाल डाली थी । बालक ठंडसे काँप रहा था और जोर-जोरसे रो रहा था । ग्रामीण स्त्री उसे चुपानेका प्रयत्न करने लगी और उसने उसको अपनी धोतीमें लपेटना चाहा; परंतु उसकी धोती भी सारी भींगी थी । अतः बालकको आराम न मिला । इतनेमें ही उन सम्भ्रान्त घरानेकी लड़कियोंमेंसे एकने अपने बक्समेंसे एक कुछ पुरानी धोती निकाली और उसमेंसे एक बड़ा टुकड़ा फाड़कर उस स्त्रीको दे दिया । पर वह स्त्री संकोचवश कपड़ेमें बालकको लपेटनेमें झिझकी । मैंने तथा अन्य यात्रियोंने उसे कपड़ा लपेटनेको कहा, इतनेमें उस लड़कीसे न रहा गया और वह स्वयं बालकके पास गयी और उसको गोदमें लेकर, कपड़ेसे पोंछकर उसमें लपेट दिया । बालकने आराम पाकर रोना बंद कर दिया ।

वैसे बात बहुत छोटी, परंतु मेरा हृदय उस उच्च कुलकी लड़कीके उस ग्रामीण बालकके प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहारसे द्रवित हो गया ! —मदनमोहन सक्सेना

(५)

आदर्श ईमानदारी

जामडोबा कोलियरीसे एक मीलकी दूरीपर डूमरी नं० ४ कोलियरीके एक सज्जन श्रीअनूपसिंह नामक निवास करते हैं । वे अच्छे व्यापारी हैं । उनके यहाँ डूमरी नं० ७ के रहनेवाले श्रीजगनारायण उपाध्यायने चौदह हजार रुपये धरोहरके रूपमें रख दिये थे । इस बातका पता उन दो व्यक्तियोंके अतिरिक्त और किसीको भी नहीं था । भावीवश श्रीजगनारायणजी उपाध्यायकी अकस्मात् मृत्यु हो गयी । तदनन्तर श्रीअनूपसिंहजीने उनके घरवालोंको बुलाकर चौदह हजार रुपये उनको दे दिये । वे सभी दंग रह गये ! —पं० रामप्रताप मिश्र

भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ

भगवान् मेरे हैं, मैं उनका हूँ, इसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ । उनकी अहैतुकी प्रीतिकी सुधाधारा निरन्तर मुझपर बरस रही है, मैं सदा उनके सौहार्दकी छत्रछायामें ही रहता हूँ, उनकी कृपाशक्ति निरन्तर मेरी सार-सँभाल रखती है । अतएव मुझे अब इस बातकी तनिक भी परवा नहीं रही है कि मेरी आज क्या स्थिति है और मेरा कल क्या होगा ? मैं सदा सर्वदा सर्वशक्तिमान्, परम सुहृद्, परम आत्मीय, आत्मस्वरूप ही अपने भगवान्‌की देख-रेखमें हूँ । वे मुझे कभी नहीं छोड़ते, कभी नहीं छोड़ेंगे । भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ ।

प्रकाशित हो गया ! *प्रकाशित हो गया !!*

अवधवासी महात्मा श्रीअंजनीनन्दनशरणजीद्वारा सम्पादित

मानस-पीयूष खण्ड ७ का तीसरा संस्करण

सप्तम सोपान (सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड)

आकार डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ७८४, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ८.५० (आठ रुपये पचास नये पैसे) मात्र। डाकखर्च २.३५। अधिक प्रतियाँ मँगवानेवाले अपने निकटस्थ रेलवे स्टेशनका नाम लिखनेकी कृपा करें अथवा स्थानीय पुस्तक-विक्रेताओंके द्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न करें, जिससे भारी डाक-खर्चकी बचत हो सके।

अयोध्यानिवासी महात्मा श्रीअंजनीनन्दनशरणजीने मानस-पीयूषके अधिकाधिक प्रचारकी दृष्टिसे अपने पास बचा-खुचा जो स्टाक इसके पुनर्मुद्रणके सर्वाधिकार (कापी राइट) सहित गीताप्रेसको दिया था, उसमें उत्तरकाण्डकी केवल १३५ प्रतियाँ थीं, जो बहुत शीघ्र बिक गयीं। तभीसे अनेक प्रेमी सज्जन इसके शीघ्र प्रकाशनके लिये बार-बार तकाजा करते थे, परंतु विशेष चेष्टा करनेपर भी अनेक कारणोंसे इस बृहद् ग्रन्थके पुनर्मुद्रणमें लगभग दो साल लग ही गये।

इस उत्तरकाण्डके दो संस्करण पहले श्रीअयोध्याजीसे निकल चुके हैं। जिनका मूल्य अजिल्द प्रतिका साढ़े सोलह रुपये रक्खा गया था। गीताप्रेसने इसके केवल साढ़े आठ रुपये रक्खे हैं और प्रेसके नियमानुसार सब पुस्तकें मिलाकर ५०) के मालपर १५) प्रतिशत कमीशन और १००) के मालपर फ्री-डिलेवरी भी दी जाती है।

आशा है कि मानस-प्रेमी पाठक इससे विशेष लाभ उठा सकेंगे।

मानस-पीयूषके प्राप्य अन्य खण्ड

खण्ड १—बालकाण्ड भाग १, इसमें प्रारम्भसे दोहा ४२ तक है। पृष्ठ-संख्या ६८८, सजिल्द, मूल्य ७.५० डाकखर्च २.२०।

खण्ड ४—अयोध्याकाण्ड—सम्पूर्ण, पृष्ठ-संख्या ११९६, सजिल्द, मूल्य ११.००, डाकखर्च ३.०५।

खण्ड ५—अरण्य तथा किष्किन्धाकाण्ड दोनों पूरे एक जिल्दमें सजिल्द, मूल्य ७.०० डाकखर्च २.०५।

खण्ड ६—सुन्दर तथा लंकाकाण्ड दोनों पूरे एक जिल्दमें सजिल्द, मूल्य ११.०० डाकखर्च २.८५।

केवल सुन्दरकाण्ड तथा केवल लंकाकाण्ड अलग-अलग भी मिलते हैं। सजिल्द मूल्य क्रमशः ५.०० तथा ६.५० तथा डाकखर्च क्रमशः १.६५ तथा २.०५ है।

एक साथ कई खण्ड मँगवानेपर डाकखर्चमें रजिस्ट्री-खर्च केवल एक ही जगह आठ आना लगता है, अतः शेष खण्डोंका प्रतिखण्ड आठ आना कम लगेगा। रेलसे मँगवानेपर तथा पुस्तक-विक्रेताओंसे खरीदनेपर भारी डाक-खर्चकी बचत होगी।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० ए० १७५

'कल्याण'के जनवरी १९६१ के विशेषाङ्क

'संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क'का दूसरा संस्करण

(एक लाख सोलह हजार प्रतियोंका प्रथम संस्करण बहुत जल्दी समाप्त हो गया । अतः शीघ्रतापूर्वक १५००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापा गया है ।)

कल्याणका यह 'संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क' प्रसिद्ध योगवासिष्ठ महारामायणका संक्षिप्त साररूप है । योगवासिष्ठ एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वका प्रतिपादक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसमें एक ही तत्त्वकी विविध सुन्दर कथाओंके तथा सुन्दर रोचक युक्तियोंके द्वारा सफलरूपसे स्थापना की गयी है । योग, योगसाधन, सदाचार, शास्त्रविधिपालन आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंपर भी बहुत ही प्रभावशाली विवेचन किया गया है । इसकी कथाएँ भी बड़ी सुन्दर हैं । इस अङ्कमें ७०० पृष्ठोंकी सामग्री है । बहुरंगे १६, दुरंगा १, सादे १० तथा १३६ रेखाचित्र हैं । अङ्क बहुत सुन्दर तथा बहुत ही उपयोगी है । हिंदीमें योगवासिष्ठका इस प्रकारका सारसंग्रहरूप यह पहला ही ग्रन्थ है और केवल ७.५० में ही उपलब्ध है ।

इस अङ्कको जनताने इतना पसंद किया कि सब पुराने ग्राहकोंको वी० पी० भेजी जा सकनेके पूर्व ही सब अङ्क बिक गये । प्रथम संस्करणके शीघ्र समाप्त हो जानेके कारण यह दूसरा संस्करण छापा गया है । जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद ही शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी । जिन नये ग्राहकोंको यह विशेषाङ्क लेना हो वे मनीआर्डर 'मैनेजर कल्याण'के नाम भेजें, उसमें किसी व्यक्तिका नाम न लिखें ।

सजिल्द विशेषाङ्क मँगवानेवाले सज्जन जिल्द-चार्जसहित रु० ८.७५ मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें ।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

२२वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६.२० (छः रुपये बीस नये पैसे), सजिल्द ७.४५ (सात रुपये पैंतालीस नये पैसे) मात्र ।

२४वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६.५० (छः रुपये पचास नये पैसे), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य ।

२८वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र तिरंगे २०, इकरंगे लाइन चित्र १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे), सजिल्द ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) ।

२९वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे), सजिल्द ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) ।

३२वें वर्षका भक्ति-अङ्क—जनवरी १९५८ का विशेषाङ्क, सजिल्द ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) ।

३३वें वर्षका मानवता-अङ्क—जनवरी १९५९का विशेषाङ्क, पूरी फाइलसहित, पृष्ठ-संख्या १४०८, रंगीन चित्र ३५, दुरंगा १, इकरंगे ३६, रेखाचित्र १९, मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे), सजिल्द ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) ।

३४वें वर्षका संक्षिप्त देवीभागवताङ्क—जनवरी १९६० का विशेषाङ्क केवल प्राप्य है । इस वर्षके साधारण अङ्क समाप्त हो गये हैं । मूल्य ७.५०, सजिल्दका ८.७५ है ।

डाकखर्च—सबमें हमारा है । व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**